उपन्यासों में आदिवासी चेतना के स्वर

संपादक

डॉ० विजेंद्र प्रताप सिंह
रवि कुमार गोंड
शैलेंद्र सिंह कुशवाह

हिंदी तथा हिंदीत्तर उपन्यासों में आदिवासी चिंतन

डॉ० विजेंद्र प्रताप सिंह

वर्तमान साहित्य परिदृष्य में दलित–विमर्श, स्त्री–विमर्श के स्वर जिस तीव्रता से मुखरित हो रहे हैं उतनी ही तीव्रता से जनजातीय या आदिवासी विमर्श भी समाज में व्याप्तता जा रहा है। साहित्य की प्रत्येक विधा में जनजातीय साहित्य लेखन हो रहा है। उपन्यास साहित्य की सशक्त विधा के रूप में सर्वसिद्ध है। उपन्यासों के माध्यम से मानवीय मनोविज्ञान का संप्रेषण सहज रूप से दिया जाता रहा है। इस विधा के माध्यम से सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्रांतियों को जन्म मिला है। उपन्यास एक व्यक्ति का जीवनवृत्त होता है, एक परिवार का संघर्ष है, एक समाज का यथार्थ रूप तथा संस्कृति का हक है, साथ ही कला का एक उत्कृष्ट स्वरूप है। आधुनिक हिंदी उपन्यास का प्रमुख एवं केंद्रीय स्वर मानवजीवन से जुड़ाव और सामाजिक सरोकार है। नये उपन्यासकारों ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में पूर्व से अलग पहचान बनाने के दिशा में अभूतपूर्व पहल की है। देश के दूर–दराज के आंचलों में रहने वाले आदिवासियों के जीवन, संस्कृति एवं संघर्ष को उजागर करते हुए इसे आन्दोलन का रूप प्रदान किया है।

साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में इस विधा का व्यापक प्रसार हुआ है एवं शैली को विकसित रूप मिला है। उपन्यास वर्तमान जीवन की जटिलताओं और सुक्ष्मता को सही रूप में अभिव्यक्ति देने वाली एकमात्र विधा है। ''सभ्यता न वेशभूषा है, न पोशाक। संस्कृति पाउडर, टीका, सरकारी चाकरी, वेतन नहीं है। दोपहर के भोजन में गुड़ और दलिया तथा उबली दाल के लिए कतार बाँध स्कूल आना शिक्षा नहीं। खाद, बीज, भैंसा, मुर्गी पालना प्रगति नहीं है। आदमी सभ्यता बनाता है या सभ्यता आदमी को बनाती है?''(प्रतिभा राय, आदिभूमि, पृ.सं. 294)

इससे अधिक आदिवासियों क्या हैं? उनकी इस समाज में क्या भूमिका कहने की आवश्यकता नहीं है। जहां तक ज्ञात है भले ही आदिवासी विमर्श से संबंधित उपन्यासों की पृष्ठभूमि स्वतंत्रता पूर्व की रही परंतु आदिवासी जीवन से संबंधित उपन्यासों का प्रकाशन स्वतंत्रता पश्चात् ही हुआ। नव जाग्रति एवं चेतना तथा नगरीय जीवन की यांत्रिकता से ऊबे हुए साहित्यकारों ने आंचलिक साहित्य

की ओर अपना ध्यान लगाया और इस साहित्य के नाम पर छोटे–अछूत, लोक समूहों, अपेक्षित भूखंडों, विस्मृत एवं तिरस्कृत वर्गों, जातियों तथा जनजातियों को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान हिंदी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए महात्मा गांधी जी ने ''गांवों की ओर लौट चलो'' का नारा जनमानस को दिया, जिसका प्रभाव साहित्यकारों पर पर्याप्त रूप में पड़ा और जनपदीय आंदोलन का सूत्रपात हुआ। इसके फलस्वरूप हुई रचनाओं के माध्यम से दैन्य, गरीब, पिछड़े एवं शोषित जनमानस को वेदना प्रकटीकरण हेतु वाणी प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त मध्यवर्गीय नगरीय जीवन की एक–रस, समगतिय जनजवीन से मुक्ति की छटपटाहट भी मुखरित होने लगी। लोगों को नगरों से मोहभंग होने लगा और वे ग्रामीण अंचलों का रूख करने लगे। हालांकि नगरों की ओर जाने की गति की तुलना में नगरों से जाने की गति बहुत ही धीमी रही। कारण स्पष्टतः रोजगार ही रहा, क्योंकि छोटे नगरों, ग्रामांचलों में आज भी रोजगार के साधनों का पर्याप्त अभाव हैं और लोग चाहे–अनचाहे नगरों की ओर जाने के लिए विवश हैं। सामान्य भाषा में कहा जाए तो यही कहना होगा कि आखिर पापी पेट का सवाल है, करें तो क्या करें।

आदिवासी साहित्य लेखन के संबंध में डॉ0 दिनेश्वर प्रसाद का कथन है कि ''1840 ई. के आस–पास इस प्रकार के लेखन में त्वरा आती है। किंतु जहां तक मेरी जानकारी है, इन भाषाओं में कथा लेखन का एक ही उदाहरण मिलता है, वह 1920 ई. के आस–पास मेनास ओड़िया का उपन्यास 'मथुरा की कहानी' है। यह एक महा काव्यात्मक उपन्यास है जो पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों में ही मुद्रित हो सका। यह कहानी खूंटी के नजदीक बसाये जाने वाले एक नया मुंडा गांव की कहानी से आरंभ होता है। आरंभ बड़ा चमत्कारी है। एक नया गांव बसाने के लिए पाहन के निर्देशों के अनुसार कुछ लोग पहाड़ी की चोटी से ससंदिरी के लिए शिलाखंड लुढ़का रहे है। ससंदिरी नहीं तो गांव कैसा। किंतु इस नाटकीय आरंभ के बाद उस युग की घटनाओं का एक पूरा सिलसिला चित्रित हुआ है। इन घटनाओं में बिरसा भगवान का जीवन भी आया है। इसमें समस्त मुंडा जीवन चक्र चित्रित हुआ है। इसे पढ़ कर महाभारत की याद आती है जिसके विषय में यह कहा गया है कि जो महाभारत में नहीं है वह भारत में नहीं है–यन्न भारते तन्न भारते –जो कुछ मथुरा कहानी में नहीं है वह मुंडा जीवन में भी नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी यह एक अद्वितीय रचना है। इस महान रचना के प्रकाशन के पीछे फादर पौनेट की साधना नहीं होती तो यह कभी प्रकाशित नहीं होती। किंतु आज तक इसके

नमूने और स्तर का कोई दूसरा कार्य नहीं हो पाया है। खड़िया के प्यारे केरकेट्टा इसके अपवाद हैं जिनका लघु उपन्यास 'बेरथा बिहा' है।'' (डॉ0 दिनेश्वर प्रसाद http://pathaar.wordpress.com/author/vinodranchi/page/8/#)

साहित्य में यथार्थ का चित्रण कई रूपों में पाया जाता है और किसी चेतना या आंदोलन के साहित्य विशेष में तो यथार्थ का महत्व कुछ अधिक रहता है क्योंकि आंदोलन के मुद़दों का चित्रण लक्षण या व्यंजना के माध्यम से उतना प्रभावी नहीं हो पाता है जितना कि अभिधात्मक अभिव्यक्ति से। दलित, स्त्री या आदिवासी चेतना के साहित्य में यथार्थ चित्रण ने ही जनसामान्य को वस्तुस्थिति से अवगत कराते हुए आंदोलन को सजीवता के साथ सक्रियता प्रदान की। यथार्थबोध के संबंध में विद्वानों मतवैभिन्य है। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद के अनुसार ''यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रखकर देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रतता का परिणाम अच्छा, उसके चरित्र अपनी कमजोरियां या खूबियां दिखाते हुए अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं।'' (प्रेमचंदः कुछ विचार, पृष्ठ संख्या 51)

''जो साहित्यकार मानव जीवन एवं समाज का सम्पूर्ण वास्तविक चित्र उपस्थित करता है और अपने साहित्यिक वस्तु विषय काल्पनिक संसार न लेकर वास्तविक संसार से लेता है, उसे ही यथार्थवादी लेखक कहते हैं।'' (डॉ0 त्रिभुवनः हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, पृष्ठ सं.7)

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''यथार्थ का मूल सिद्धांत है वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा चित्रित रंगों से अनुरंजित करना और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिए कांट छांटकर उपस्थित कर। जिस प्रकार कैमरा वस्तु के प्रत्येक अवयव और वातावरण को ज्यों का त्यों उपस्थित कर देता है न घटाता है, न बढ़ाता है, उसी प्रकार लेखक वक्तव्य वस्तु को ज्यों का त्यों उपस्थित कर देता है।'' (हजारी प्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, पृष्ठ सं.225)

ऑयन वाट के अनुसार ''साहित्य में यथार्थ विशिष्टता का सिद्धांत इतना व्यापक और इतना सामान्य है कि इसका कोई सुनिश्चित आकार संभव नहीं।'' (ऑयन वाट उपन्यास का उदय, पृष्ठ सं.12)

विदित है कि प्रत्येक विधा या वस्तु के संबंध में विद्वानों की एकाधिक राय या विचार होते हैं उसी प्रकार यथार्थबोध पर भी मतवैभिन्य है। जहां तक प्रश्न है

आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यासों का तो आदिवासी जीवन अपने आप में बहुत बड़ा यथार्थ है उसमें बहुत ज्यादा मिश्रण की संभावना होती ही नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात आज तक वैसे आदिवासी जीवनाधारित उपन्यास लेखन की कोई बहुत सुदृढ़ परंपरा नहीं बन पाई है परंतु कुछ कृतियां हैं जो इस दिशा में मील का पत्थर साबित हुई हैं। आदिवासी चेतना से संबंद्ध उपन्यासों में जनजातियों को केंद्र में रख कर रचना की गई है, परंतु आज कई उपन्यास ऐसे हैं जो बाजार में उपलब्ध नहीं है। फिर भी जितने उपन्यास उपलब्ध हैं, उन सारे उपन्यासों को पढ़ने के बाद कई दृष्टियों से इनका विभाजन किया जा सकता है–

1. पूर्ण रूप से आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यास
2. गौण रूप से आदिवासी जीवन को प्रदर्शित करने वाले उपन्यास
3. आदिवासी लेखकों द्वारा लिखे गये उपन्यास
4. आदिवासीतर लेखकों द्वारा लिखे गये उपन्यास
5. निश्चित आदिवासी समूहों पर आधारित उपन्यास
6. एक ही आदिवासी समूह पर आधारित उपन्यास
7. विद्रोह परक आदिवासी उपन्यास
8. ईसाईमत से प्रभावित आदिवासी जीवन पर लिखे गए उपन्यास
9. बंधुआ मजदूरी पर आधारित आदिवासी उपन्यास
10. आदिवासी संस्कृति, धर्म एवं आर्थिक विषमता पर आधारित उपन्यास

उपर्युक्त के अतिरिक्त आधुनिक हिंदी उपन्यासों में आदिवासी चेतना से संबंधित मनोविश्लेषणवादी, ऐतिहासिक, प्रयोगवादी, आंचलिक संचेतना को प्रमुखता से उभारा जा रहा है। हिंदी में आदिवासियों से संबंधित उपन्यास साहित्य के अंतर्गत स्वयं आदिवासियों के द्वारा और गैर आदिवासी साहित्यकारों द्वारा लिखा गया साहित्य आता है, जिनमें आदिवासी समाज के जीवन का आतंरिक पक्ष एवं उनकी मानसिकता का सजीव अंकन हुआ हैं। आदिवासी उपन्यासकारों में मेंनस ओडिया द्वारा रचित 1920 में रचित तथा 1984 में प्रकाशित 'मतुराअः कहनि' उपन्यास मुंडारी भाषा में लिखित प्रमुख उपन्यास माना जाता है। प्यारे करकेट्टा का लघु उपन्यास ''बेरथा बिहा'' भी आदिवासी विमर्श का महत्वपूर्ण उपन्यास है। पीटर पाल एक्का के 'मौन घाटी', 'सोन पहाड़ी', 'जंगल के गीत' में मुंडा आदिवासी

समाज चित्रित हैं। तीनों ही उपन्यास आदिवासी विमर्श के उपन्यास हैं। जंगल के गीत में झारखंड के आदिवासियों की समाजिक समस्याओं पर विमर्श किया गया है तो मौन घाटी, सोन पहाड़ी में पलायन, विस्थापन, खत्म होते जंगल, अस्तित्व के लिए जूझते हुए आदिवासीजनों की पीड़ा को दर्शाया गया है।

देवेन्द्र सत्यार्थी द्वारा रचित 'रथ के पहिये' (1952) उपन्यास गोंड आदिवासियों के जीवन पर लिखित बहुत ही उत्कृष्ट उपन्यास है। श्याम परमार ने भील आदिवासियों को केंद्र में रखकर 'मोरझाल' (1953) उपन्यास का सृजन किया था। उदय शंकर भट्ट कृत 'सागर लहरें और मनुष्य' (1955) में मुंबई के बारसोवा बीच के कोलियों के संघर्ष, एवं 'धरती मेरा घर' में बंजारा लोहार जिप्सी समाज के जीवन संघर्ष की प्रस्तुति हुई हैं। उपन्यास के शीर्षक के अनुरूप में सागर हलेरें और उसके विभिन्न जल–जंतुओं के साथ जीवन बिताने वाले अनके मनुष्यों की कहानी है। मुंबई के कोली समाज के अभावग्रस्त जीवन के साथ मुंबई महानगर के जीवन का दर्शन भी इस उपन्यास में प्राप्त होता है। बोली, भाषा तथा वातावरण आदि सभी दृष्टियों से यह एक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास है। डॉ0 इंदिरा जोशी के अनुसार ''इस उपन्यास में बंबई की महानगरी के सन्निकट होने के कारण, उनके नित्य प्रति के जीवन में कैसे भले बुरे परिवर्तन आते जाते हैं, इन सब का भी चित्रपट के समान सजीव वर्णन पाया जाता है।'' (डॉ. इंदिरा जोशीः हिंदी आंचलिक उपन्यास उद्‌भव और विकास, 1985)

वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यास 'कचनार' की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। कल्पना और तत्कालीन इतिहास का अद्‌भुत सम्मिश्रण इसकी विशेषता है। उपन्यास का घटनाकाल 1792 से 1803 के मध्य का है, जबकि धामोनी में मुख्यतः गोंड–राजगोंड बसते थे। धामोनी, सागर और झाँसी के पास का एक सूबा है। यह सूबा उस काल में कभी गोंडो के द्वारा शासित हुआ, तो कभी मुगलों, मराठों और बुंदेलों के हाथ होता हुआ फिर वापस गोंडों के नियंत्रण में आ गया। उपन्यास में वर्णित अधिकांश घटनाएँ सच्ची हैं। गोसाइयों की टोलियाँ, पिंडारियों का आतंक जिनसे अंग्रेज तक हमेशा तबाह रहे। होलकर, भोंसले, सिंधिया और छोटे–छोटे रावों, जागीरदारों की आपसी कलह, सभी कुछ तो उस काल में बार–बार घटित हो रहा था। इस सबके बाबजूद, धामोनी लगातार निकट के छोटे बड़े शासकों की निगाह में बना रहा। राजेन्द्र अवस्थी 'जंगल के फूल' उपन्यास में बस्तर जिले की गौंड़ जनजाति की संस्कृति और अपने अस्तित्व के लिए किए गए उनके संघर्ष का यथार्थ चित्रण हुआ है। उपन्यास की मूल कथा सुलकसाये और महुआ के प्रेम पर

केन्द्रित है, किन्तु इसके माध्यम से सम्पूर्ण आदिवासी संस्कृति उजागर हो जाती है। इनकी विशिष्ट–विलक्षण संस्कृति, पहनावे, अंधविश्वासों, मान्यताओं, रीति–रिवाजों, उत्सवों व उनके जातीय संगठन का उपन्यास में यथार्थ चित्रण हुआ है।

जय सिंह कृत 'कलावे' (1960) उपन्यास में भीलों की एक प्रजाति कलावे पर लिखित एकमात्र उपन्यास है। मालवा के दक्षिणी पठार के दौर से आरंभ अरावली की बीहड़ घाटियों में एक गांव है– पालगांव, जहां पर कलावों के दस परिवारों अलावा एक घर चमार जाति का भी है। जंगल पर निर्भर कलावे मलेरिया, हेजा और चेचक जैसी बीमारियों से जूझते, ओले बाढ़ और सूखा जैसी प्राकृतिक विपदाओं से लड़ते आर्थिक रूप से विपन्न ठाकुर की साहूकारी, ठेकेदार तथा पुलिस के आतंक एवं शोषण में जीवन यापन करते हैं। मदिरापान कलावों की कमजोरी है। ''जहरीली शराब से वातावरण भयावह हो जाता है, जिसका वर्णन यथार्थपरक शैली में हुआ है। आदिवासियों को नशा करवाकर आसानी से ठगा जा सकता है। कलावे का बीरजा प्यारजी कलार के बहकावे में शराब पीकर जमींदार से लिए ऋण के सारे रूपयों को लुटा देता है।'' (जयसिंहः कलावे, पृष्ठ सं. 94)

नागार्जुन का 'वरुण के बेटे' (1957) में मछुआरों की विषयवस्तु केंद्रित उपन्यास है। इसमें बिहार के दरभंगा के महाली–गोंढियारी के मछुआरों के सामाजिक जीवन को प्रस्तुत किया है। इस छोटे से गांव में मछुओं के तीस–तैतीस परिवार के अलावा कुछ किसान और कुछ खेत मजदूरों की समस्याओं का चित्रण किया गया है। जमींदार ओर दूसरी ओर सरकारी मशीनरी की दो शोषक शक्तियों के मध्य गंठबंधन के बीच पिसती साधनहीन, गरीब और विपन्न मछुआरों के संघर्ष दृष्टव्य है।

रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूँ' (1957) उपन्यास में जयराम पेशा खानाबदोश करनट जाति के जीवन संघर्षों का विवरण हमें सुखराम के जटिल जीवन चरित्र के माध्यम से मिलता है जिसमें अनेक प्रकार के अंतर्विरोध वैयक्तिकता, सामाजिकता, विशिष्ट सामान्य, अतीत एवं वर्तमानक के मिश्रित रूप शामिल हैं। इस उपन्यास के संबंध में डॉ0 रामगोपाल चौहान का कथन है कि ''कब तक पुकारूं में राजस्थान की एक करनट जनजाति के जीवन का चित्रण है, जो पूरी तरह जयराम पेशा जनजाति है।'' (डॉ0 रामगोपाल चौहानः आधुनिक हिंदी साहित्य, पृष्ठ सं. 21)

यह पूर्वी राजस्थान इस जनजाति को आधार बनाकर लिख गया एकमात्र

उपन्यास है। करनट जनजाति गरीब, उपेक्षित, उत्पीड़ित एवं शोषित है। इस जनजाति के पास गुजर बसर करने के नाम अपने तन के सिवाय और कुछ भी नहीं है। करनट समुदाय में मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं। करनटों में यह छूट है। वहाँ कोई बुराई 'सेक्स' के आधार पर नहीं मानी जाती। उपन्यासकार इस भाव को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं, ''औरत का काम, औरत का काम है। उसमें बुरा–भला क्या? कौन नहीं करती? नहीं तो मार–मार कर खाल उड़ा देगा दरोगा और तेरे बाप और खसम दोनों को जेल भेज देगा। फिर कमरा न रहेगा तो क्या करेगी? फिर भी तो पेट भरने को यही करना होगा?'' (रांगेय राघवः कब तक पुकारूँ, पृ. सं. 3)

उपन्यास में अभिव्यक्त करनट समाज खानाबदोश, घोर उत्पीड़ित एवं शोषित है। यह उपन्यास संपूर्ण भारतीय ग्रामीण परिवेश को अपने साथ लेकर चलता हुआ प्रतीत होता है। जिसमें करनटों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। सोहन शर्मा का 'मीणा घाटी' उपन्यास का कथा परिवेश राजस्थान की मेवाड़ रियासत का है। रियासत में बसे मील, मीणा, छोटे किसान तथा सामान्य जनता अंग्रेज हाकिमों और रजवाड़ों के दोहरे शोषण की शिकार है। मेवाड़ के अरावली पर्वत की मीणा घाटी के मील–मीणें शोषण और जुल्म के विरूद्ध विद्रोह करते हैं। शोषण से मुक्ति के लिए संघर्ष का शंखनाद करने वाले विद्रोही मील सरदार अमरा के रूप में इस उपन्यास में एक ऐसा पात्र सजीव हुआ है जो भावी पीढ़ियों के लिए आदर्श बना रहेगा।

राजेंद्र अवस्थी के 'जंगल के फूल' (1960) उपन्यास में वास्तविक घटना के वैचित्रय में कल्पना व ऐतिहासिक यथार्थ का सुंदर उपयोग हुआ है। कई छोटी–छोटी उपकथाएं सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक समस्याओं से संबंधित होकर एक दूसरे से जुड़ती है। उपन्यास में गोंड जनजाति में प्रचलित जीवन के लोकाचार, रीतियों, लोकपर्व, लोक कथाएं, लोकगीत आदि का पर्याप्त मात्रा में वर्णित हुए हैं। अपने ही जीवन एवं संस्कृति में रंगे हुए बस्तर के गोंड में अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हैं। गोरों द्वारा मनमानी करने पर संपूर्ण अंचल सक्रिय हो उठता है। पुरूष तो पुरूष, महिलाएं भी पीछे नहीं रहती हैं। उपन्यास में बेगार, श्रम–शोषण, पुलिस द्वारा दुर्व्यवहार के साथ आदिवासियों द्वारा आदिवासियों के शोषण का उल्लेख भी किया गया है। नेतानार के घर करतमी का भगेला बनकर बेगार करने का चित्रण भी है। ''आदिवासी समाज में स्त्रियों की दयनीय अवस्था के कई कोणों से लिए गए चित्र हैं। पुरूषों के हाथ बंटाकर भी स्त्रियां अपनी स्थिति में

सुधार नहीं कर पाती हैं। दूध लौटाना प्रथा में एक लड़की की भावना कुचल दी जाती है। (जंगल के फूल, पृष्ठ सं. 40) इस उपन्यास में चुडैल का डर अंग्रेज के आंतक से बचाता है– ''हम जंगली गंवार हैं। हमारे गांव की हर गैल में देवता रहता है। हर झाड़ में भूत बसता है। नदी किनारे प्रेत रहता है और हर खंडहर में चुडैल। कितना सच कहते है वे। बोले रे, यह सब न कहा जाता तो न जाने कब के हम और हमारे गांव धूल में मिल गए होते।'' (जंगल के फूल, पृष्ठ सं. 36) इसी उपन्यास में लोग सांप के काटने पर एक विशेष पौधे के पत्ते चबाने लगते हैं। मुर्गियों को अपना खून पिलाते हैं। कद्दू तुरइंया खाते है तथा सांप जहर भी वापस ले लेता है। (जंगल के फूल, पृष्ठ सं. 24)

उदयशंकर भट्ट का उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' (1964) मुंबई के तट पर बरसोवा गाँव में स्थित कोल जनजाति को चरितार्थ करता है। गुलशेर खाँ शानी के 'शालवनों का द्वीप' (1966), 'नदी और सीपियाँ'(1970) तथा 'साँप और सीढ़ी' (1971) उपन्यास महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रहे हैं। 'नदी के मोड पर' (1969) उपन्यास में दामोदर सदन द्वारा भी भील जाति को आधार बनाया गया है। इस उपन्यास में राजा भोज की नगरी जिस वर्तमान में धार के नाम से जाना जाता है, की कुक्षी तहसील में प्रवाहित होने वाली नदी बाधनी के किनारे कुमढेरा गांव के भील भिलालों की कथा–व्यथा है।

महाश्वेता देवी का बांग्ला उपन्यास 'जंगल के दावेदार' (सन् 1975) में बिरसा मुंडा के जीवन एवं कार्यों तथा 'अग्निगर्भ' में संथाल आदिवासी समाज की संघर्ष चेतना व्यक्त हैं। 'जंगल के दावेदार' महाश्वेता देवी का बंगला में लिखित उपन्यास है, जो कि मूल रूप में 'अरण्येर अधिकार' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास 19वीं सदी के अंतिम दशक में बीरसा मुंडा के नेतृत्व में किए गए ऐतिहासिक विद्रोह की घटना पर आधारित है। महाश्वेता देवी के उपन्यास ''जंगल के दावेदार'' में मुंडा सामंती व्यवस्था के जमींदार, भूपति व साहूकारों की गुलामी से मुक्ति पाने के लिए बीरसा मुंडा अपने आदि देव, धर्म, मंदिर व तीर्थ स्थलों की शरण ही नहीं लेते अपितु अपने लोगों के साहस व शक्ति को जागृत करने के लिए स्वयं को भगवान घोषित कर देता है– ''सावधान हो जाओ तुम लोग। इस धरती पर महाप्रलय का नाच होगा। मैं धरती को फाड़कर पाताल का जल बहा दुंगा। पहाड़ों को तोड़कर बराबर कर दूंगा। दुश्मनों की फौजें कहीं भी भागे में खींच खड़ा करूंगा।'' (महाश्वेता देवीः जंगल के दावेदार, पृष्ठ सं. 158)

कृष्णचंद्र शर्मा 'भिक्खु' की रचना 'रक्तयात्रा'(1978) उत्तर–पूर्व भारत की नागा जनजाति के आदिम संस्कार और आधुनिक युग में अपनी अस्मिता के खातिर किये संघर्षों के यथार्थ की अभिव्यक्ति के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही है।

राकेश वत्स कृत 'जंगल के आसपास' (1982) उपन्यास में दमकडी अँचल की सोन नदी के किनारे फैले जंगल और पहाड़ियों में बसे आदिवासियों के जीवन का चित्र अंकित है। यह आदिवासी पूँजीपतियों और जमींदारों के अन्याय, अत्याचारों, शोषण और आतंक से पीड़ित है।

बटरोही का उपन्यास 'महर ठाकुरों का गाँव' (1984) अल्मोड़ा जिले की घाटियों में स्थित महर ठाकुरों के लोकजीवन को प्रस्तुत करता है। इस कथा का नायक सीरगाड गाँव का हरदा नामक युवक है। वह अपने गाँव में परिवर्तन करना चाहता है लेकिन अज्ञान, अशिक्षा और धार्मिक कर्मकांड में फँसे गाँव के लोग पहले–पहल उसकी नई सोच–विचार का विरोध करते है। परन्तु अंत में हरदा को अपने कार्य में सफलता मिलती है।

सुरेशचंद्र श्रीवास्तव के उपन्यास 'वनतरी' (1986) के केन्द्र में बिहार का डूमरी अँचल है। डूमरी अंचल में प्रमुख रूप से भुइयां तुरी, मेहरा, महतों तथा पहरिया आदि जनजातियाँ निवास करती है। इन्हीं में से पहरिया जनजाति को इस उपन्यास में केन्द्रीय भूमिका में रखा गया है। पहरिया आदिवासी आजीविका के लिए जंगल पर निर्भर रहते हैं। उनके जीवन में आजीविका को लेकर उभरे संघर्ष और विसंगतियों को उपन्यास में अभिव्यक्त किया गया है।

डॉ0 एन. एम. नायर का 'सागर की गालियाँ' (1987) उपन्यास केरल के दक्षिण छोर के तुरूत अँचल पर केंद्रित है। इसमें मछुआरों का जीवन मुखर हुआ है। सागर पर निर्भर रहने वाले मछुआरों के परंपरागत जीवन में हो रहे परिवर्तन और जीवन मूल्यों के अंतद्वर्द्व को इस उपन्यास में उजागर किया गया है।

विनोद कुमार कृत 'समर शेष है' उपन्यास (1988) झारखंड निर्माण के तीन दशकों तक की संघर्ष गाथा और घटनाओं को बहुत सटीक और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास की केंद्रीय कथावस्तु में शिबू सोरेन तथा कामरेड एम. एन. राय जैसे जाने–सुने चरित्रों की उपस्थिति उनके मूल नामों से हैं। उपन्यास में शिबू सोरेन के नेतृत्व में हुए घनकटनी आंदोलन तथा उसके समानांतर अन्य लड़ाकू आंदोलनों को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही विभिन्न घटनाक्रमों के परिणामस्वरूप संथालों में जागृत हुई राजनैतिक चेतना को प्रस्तुत किया गया है।

संथाल आदिवासियों का फिर से पूँजीपति, राजनेता और ठेकेदारों द्वारा शोषण होने लगता है। परिणामतः सामाजिक स्तर पर अपने अस्तित्व और अस्मिता के खातिर संघर्ष जारी रहने के संकेत उपन्यास में प्रस्तुत होते है। संथालों में जागृत हुई राजनैतिक चेतना का स्वर परिवर्तित होकर सामाजिक–आर्थिक सवालों के परिप्रेक्ष्य में प्रवाहित रहता है।

किशनगढ़ के अहेरी (1981) उपन्यास के माध्यम से संजीव ने पिछड़े अंचल में स्थित शोषण की भयावह परिस्थितियों, निम्न वर्ग एवं उनका जीवन संघर्ष, अज्ञान, पिछड़ापन, ऋण मान्यता, धार्मिक आडम्बर, आर्थिक विषमता, जाति भेद, नारी शोषण, बंधुआ प्रथा, पूँजीपतियों का भ्रष्ट रूप आदि को उद्घाटित कर स्वांतत्रायोत्तर आम–आदमी के आजादी से हुए मोहभंग का रूपांकन कर तल्ख प्रश्न करता हैं कि ''आजादी किसके लिए कैसी आजादी? उनके लिए जो महलों में रहते हैं या उनके लिए जो दोहित और शोषित है।''(संजीवः किशनगढ़ के अहेरी, पृ. सं. 125)

मणि मधुकर द्वारा लिखित उपन्यास 'पिंजरे में पन्ना' (1981) राजस्थान की लुहार जनजाति पर आधारित है। यह जनजाति राजस्थान के मरूस्थल में खानाबदोशी का जीवन व्यतीत करती है। इनकी उत्पत्ति के संदर्भ में यह मान्यता है कि "वे राजपूतों की संतान रहे हैं। मुगलों ने जब चित्तोड़गढ़ पर तेरहवां हमला किया तब उसकी हार से बचकार निकले जो समूह थे वे अपनी अस्मिता के खातिर दुबारा वापिस नहीं लौटे। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक चित्तोड़गढ़ पर कब्जा नहीं कर लेंगे, पलंग पर नहीं सोयंगे, दीपक नहीं जलाएंगे, घर नहीं बसायेंगे, पानी खींचने का रस्सा नहीं रखेंगे। तब से उन्होंने बहुपयोगी लोहे के हथियार बनाने का कार्य आरंभ किया। इसी व्यवसाय में संलग्न होकर वे खानाबदोश बन गए। इनकी गृहस्थी बैलगाडियों में रहती है। आजीविका के लिए अपनाया पेशा और खानबदोश जीवन के कारण इनकी पहचान गाडिया लुहार जाति के रूप में की जाती रही है।" (समीक्षा– संपा. गोपाल राय, हरदयाल, अप्रैल–जून, 2006, वर्ष 39, अंक–01, (समीक्षा– जो इतिहास में नहीं है– प्रेम शशांक) पृष्ठ, 34)

'सावधान नीचे आग है' (1986) उपन्यास संजीव का जनजातीय उपन्यास है। हिंदी साहित्य में कोयलांचल के अकेले प्रमुख कथाकार हैं, जिन्होंने इस उपन्यास में कोयला माफिया, दलाल, ठेकेदार तथा उनको प्रश्रय देने वाली बड़ी व्यवस्था अपने स्वार्थ के लिए किस तरह कोयला मजदूरों का निर्मम, क्रूर शोषण कर

रही हैं, इसका बेबाक उद्‌घाटन किया है। साथ ही इस उपन्यास के केन्द्र में तत्कालीन बिहार और वर्तमान झारखंड के कोयलांचल में निवास करती संथाल जनजाति है। यह संथाल जनजाति औद्योगिक विकास के कारण प्रभावित होकर विस्थापन का दर्द झेलने को मजबूर हुई है। उपन्यास की कथा में कोयला खदानों में होनेवाली दुर्घटनाओं और उससे मजदूरों में परिवर्तित हुए आदिवासियों का यथार्थवर्णन है।

मनमोहन पाठक कृत 'गगन घटा गहरानी' (1989) उपन्यास में झारखंड के पलामू–रोहतास क्षेत्र के उरांव समाज को प्रस्तुत किया गया है। इस पलामू क्षेत्र में दलित–आदिवासी और सदान लोग बरसों से भूमिहारों के शोषण को सहते रहे हैं। इसी शोषण के परिप्रेक्ष्य में महाजनी सामंती व्यवस्था और उनके अधीन रहे आदिवासियों के जीवन–संघर्ष की व्यथा–गाथा अपनी सम्पूर्णता के साथ उपन्यास में उपस्थित है। बेगार करने वाले जागो दैनिक मजदूर और आदिवासी औरत के सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण प्राप्त होता है। दिवस भर कार्य से पस्त, भूख से त्रस्त सेवकिया जागो का चित्र साकार हो उठता है। ''भूख का अहसास जागो की चेतना की सतह पर अग आया। ढकनी से नमक निकालकर अंधेरे में ही चपर–चपर वह अधपकी दलिया खाने लगा। पूरी हांडी साफ कर वह उठा। अंदाज से ही पानी के मटके को उठाकर पी गया। भरपेट। फिर ताक पर रखी बीड़ी उठाई।'' ('गगन घटा घहरानी, पृष्ठ सं.7)

अरूण प्रकाश के अनुसार ''उपन्यास में उरांव जाति जीवन की वास्तविक झांकी भूपति के अत्याचार, बलात्कार, मारपीट, जमीन गिरवी रखना, गांव उजाड़ देना, ठेकेदार द्वारा मजदूरी पर रखना एवं अत्याचार करना आदि के फलस्वरूप मजदूरों का एकजुट होकर अन्याय के विरूद्ध संघर्ष करने आदि का प्रमुखता से चित्रण किया गया है। कहीं तो वास्तविकता की रिपोर्टिंग प्रमुख लगती है तो कहीं वास्तविक घटनाओं का विवरण। इस संबंध में अरूण प्रकाश ने कहा है कि ''यह उपन्यास वास्तविकता और यथार्थ के घुलने–मिलने के कारण रिपोर्ताज और वृतांत के बीच झूलने लगता है।'' (अरूण प्रकाशः हंस–सितंबर 1993, पृष्ठ सं. 82)

शिवप्रसाद सिंह कृत ''शैलूश'' (1989) में खानबदोश तथा आपराधिक कही जाने वाली नट जनजाति के जीवन को आधार बनाया गया है। इस उपन्यास में चंदौली तहसील का रेवतीपुर गाँव इसके केंद्र में है। इस उपन्यास में भूमिहीन नटों को सरकार द्वारा चालीस एकड़ जमीन दी जाती है, जिस पर गाँव का जमींदार

घुरफेकन तिवारी अपना कब्जा करना चाहता है। जबकि ब्राह्मण कुल की सब्बो के नेतृत्व में जुड़ावन नट का कबीला जमीन को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करता है और आखिर में जमीन उन्हें मिल जाती है। जमीन की लड़ाई ही उपन्यास की प्रमुख समस्या हैं। इसके अतिरिक्त उन्यास में नटों की लोकसंस्कृति, जीवन के अंतर्विरोध, सांस्कृतिक चेतना, आर्थिक विषमता और अभावग्रस्त जीवन, रीति–रिवाज, अल्हा दंगल, धार्मिक अनुष्ठान, लोकगीत और लोक विश्वास आदि का बहुत मार्मिक चित्रण हुआ है।

'धार' (1990) के माध्यम से संजीव ने संथाल परगना के आदिवासी अचंल के खनन दोहन, कोयला माफिया, ठेकेदार और पुलिस के अत्याचारों तथा उसके प्रतिरोध में उठने वाली आदिवासी संघर्षशील प्रतिरोधी चेतना का चित्रण है। इसकी नायिका दलित नारी मैना, 'गोदान' की धनिया, 'गदल' की गदल और एमिल जोला के 'जर्मिनल' की माहेदी की दुर्द्धर्श नायिकाओं की परम्परा की अग्रिम कड़ी हैं। इस उपन्यास में संथाल स्त्री मैना के संघर्षों और अस्मिता की चेतना को मुखरित किया गया है। इसकी कथाभूमि में बिहार का बाँसगडा अँचल है। जिसका विकास की परिक्रमा में चित्र ही बदल गया है। उसके बदले चित्र का जिक्र है, "इस अंचल में झोपड़ों का सिलसिला फैक्टरी की ओर ऐसे खिंचता चला गया है, जैसे आग की लौ के पास पतंगे और झुलसकर फिर जहाँ–तहाँ छितरा गया है। यहाँ की छटपटाती बस्ती को गोड्डा जाने वाली सड़क के वाहनों की घबराहट रात–दिन खरोंचती रहती है और दूसरी ओर से बगल से गुजरने वाली लाईन की रेलगाडियाँ जब–तब सटकारा करती है। मगर बाँसगडा सचमुच का बाँसगडा है, उठकर भागता भी नहीं, यही पड़े मौत का इंतजार करता रहता है।" इस उपन्यास में संजीव जी ने थारू जनजाति सामान्य जन, डाकू, पुलिस और प्रशासन, राजनीति, धर्म, समाज के विभिन्न पहलुओं को दर्शाया है। उपन्यास का प्रमुख पात्र थारू जनजाति के नायक 'काली' देश की पुलिस, प्रशासन और राजनीति से हताश व निराश हो कर डाकू बनने को मजबूर हो जाता है, परन्तु वे अपनी मन की गाथा को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते है, ''कुमार साहब आपकी और हमारी क्या बिसात है, इस जंगल में? इस जंगल का कोई नियम नहीं है, पता नहीं कब कौन, कैसे, कारण या अकारण ही हम पर वार कर बैठे? यह 'कौन' वह आश्रय भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं, जहाँ जान बचाने को हम सिर घुसेड़ रहे हों। यह जनजातियाँ कई प्रताड़नाओं के बाद भी अपनी संस्कृति को हमेशा कायम रखे हुए हैं, वे दिन भर की थकान को दूर करने के लिए रात को नृत्य अवश्य करते हैं। (संजीव : जंगल जहाँ शुरू होता है, पृ. स. 17)

'पाँव तले की दूब' (1990) में संजीव ने डोकरी (झारखंड) का एन.टी.पी.सी. (विद्युत कारखाना), उसके इर्दगिर्द बसी आदिवासी संस्कृति, उनके शोषण, उनकी संघर्षशील प्रतिरोधी चेतना तथा विकास की सम्भावनाओं को व्यापक परिपेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया हैं।

वीरेंद्र जैन का 'डूब' (1991) उपन्यास में मेंलड़ैई गाँव का चित्रण किया गया है, जहाँ आदिवासियों की जमीन पर बांध बनाया गया है। जिससे राउत तथा खेरे जिरोम गोत्र के कई आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। इसी बांध के टूटने से आस–पास के कई गाँवों का जीवन प्रभावित होता है। उपन्यास के शीर्षक के अनुरूप कथावस्तु में प्रमुख रूप से डूब की समस्या है। अपितु इस समस्या के तहत ही उपन्यास में ग्रामीण जीवन के कई सामाजिक–आर्थिक और राजनैतिक सवाल प्रस्तुत होते हैं।

वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'पार' (1994) में बुन्देलखण्ड अँचल के आदिवासी जीवन को वरीयता देते हुए जमीन, जंगल और शिक्षा से वंचित आदिवासियों की व्यथा कथा कही गई है। इस उपन्यास में मुखिया बनाने के रिवाज पर प्रकाश डाला है। राउतों में खेरे का विद्यमान मुखिया अपने जीवित रहते ही उत्तराधिकारी के चुनाव हेतु खेरे की किसी महिला को मुखिया माई के रूप में घोषित करता है। उसके द्वारा जना मौंढ़ा गुनिया कहलाता है। मुखिया की कोई आस–औलाद नहीं होती समस्त खेड़ा ही उसकी संतान के समान होता है। वह खेड़े के संरक्षक भी भूमिका में होता है। खेड़े के मुखिया द्वारा फुलिया को मुखिया माई घोषित किया हुआ होता है। मुखिया माई के मौढ़ा होने की खबर मुखिया तक पहुँचते ही उसने घोषित कर दिया– ''इसका नाम बजेगा गुनिया।'' गुनिया का मतलब अगला मुखिया। मुखिया बने पीछे मुखिया का कोई नाम नहीं रहता। जब तक नया मुखिया किसी को गुनिया नहीं चुनता, गुनिया भी किसी का नाम नहीं बजता। जो गुनिया चुन लिया जाता है उसका भी कोई नाम नहीं बजता। जब तक गुनिया रहता है तब तक वह गुनिया के नाम से जाना जाता है, फिर मुखिया बनने पर मुखिया के नाम से।''

श्रीप्रकाश मिश्र के 'जहाँ बाँस फूलते हैं'(1997) में मिजों जनजाति के जीवन संघर्ष को प्रमुखता से उकेरा गया है। इस उपन्यास की कथावस्तु में जनजातीय जीवन से जुड़ी ऐतिहासिक गतिविधियों का कलात्मक और कथात्मक अन्वेषण है। लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास में यथार्थ परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक साक्ष्यों के

आधार पर कई ऐसे प्रसंग भी मुखर किये हैं जो अंग्रेजों के शासनकाल की घटनाओं और ईसाई मिशनरियों द्वारा किये जागरण की प्रक्रिया सामने लाते हैं। साथ–ही इसमें यथास्थान मिजो जनजाति के अंतर्गत आने वाले लुशाईयों की जीवन–शैली, रीति–रिवाज, परम्परा एवं रुढ़ियाँ, धार्मिक अनुष्ठान और आदर्शों का परिचय भी मिलता है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने मिजोरम में व्याप्त असंतोष विक्षोभ के कारणों को पूरे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखने और समझने का प्रयास किया है। उपन्यास के शीर्षक की ओर संकेत करते हुए लेखक लिखते हैं, ''मिजोरम में जनश्रुति है कि हर पचास साल की आवृत्ति पर यहाँ के बाँस फूलते हैं। उनके बीजों को खाकर चूहे बहुत बच्चे पैदा करते हैं, जो फसल खा जाते हैं और मिजोरम में अकाल पड़ जाता है। ऐसा ही अकाल 1958 में पड़ा था, जिसके परिणामस्वरूप 1966 का विद्रोह हुआ।'' (श्री प्रकाश मिश्रः जहाँ बास फूलते हैं, पृ. स. 74) इस प्रकार लेखक ने इस उपन्यास में मिजो समाज के अंतरंग पहलुओं को उजागर करने का प्रयास किया है।

भगवानदास मोरवाल द्वारा रचित 'काला पहाड़' (1999) उपन्यास में अल्पसंख्यक मेव जनजाति के लोग हिंदुओं के साथ शांति एवं सद्भावना से व्यवहार करते हुये जीवन–यापन कर रहे होते हैं, परंतु समाज के स्वार्थी और अलगाववादी तत्व इस साहचर्य की भावना को खत्म करने के उद्देश्य से सांप्रदायिकता का जहर घोल देते हैं। उनके द्वारा सामान्य लोगों को राजनीतिक मोहरा बनाकर पैदा की जाने वाली नफरत और भेदभाव की मानसिकता को उपन्यास में उजागर किया गया है। उपन्यास की कथा अँचल विशेष की होने पर भी कुछ मात्रा में मेव जनजाति के संस्कारों और लोकतात्विक आयामों को उजागर करती है।

तेजिन्दर कृत 'काला पादरी' (2000) उपन्यास मध्यप्रदेश के गहन आदिवासी क्षेत्रों में घटित घटनाओं और जंगलों के आस–पास सांस लेते जीवन का विवरणात्मक, संवेदनशील और सूक्ष्मता से परिपूर्ण कहानी है। यह उपन्यास यथार्थ के एक अनजाने दुर्गम इलाके की अंतर्यात्रा का अनूठा और प्रामाणिक है। उपन्यास में धर्मान्तरण, राजनीतिक, आर्थिक आदि व्यवस्था के साथ–साथ, आदिवासियों की दयनीय स्थिति को अत्यन्त यथार्थ व जीवन्त रूप में प्रस्तुत करने में उपन्यासकार सफल हुए हैं। भूख से तड़पते आदिवासियों की स्थिति को उपन्यास में इस प्रकार प्रस्तुत किया है, 'साहब रात में बच्चा मर गया। उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ खाया नहीं था। उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गयी। उसने भी कई दिनों

से कुछ नहीं खाया था, आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भीतरी इलाकों में तो कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियों और बंदरों का शिकार कर, उनका मांस तक खा रहे हैं।'' (तेजिन्दरः काला पादरी, पृ. स. 21)

संजीव कृत 'जंगल जहां शुरू होता है' (2000) में थारु आदिवासी के जीवन संघर्ष–यथार्थ को उजागर करता है। यह रचना भी लेखक के खोजी प्रवृत्ति का परिणाम रहा है। बतौर लेखक, 'मेरी हर रचना तब भी शोध थी, आज भी है, चाहे वह तब का 'सर्कस' उपन्यास हो या कोई कहानी या इधर के उपन्यास 'जंगल जहाँ शुरु होता है' और सूत्रधार।' इस उपन्यास में भले ही ऊपर से बीहड़ के डाकुओं की समस्या नजर आती है, लेकिन इसका पूरा परिवेश और अंतरंग सूत्र बिहार के चंपारण जिले के थारु आदिवासियों को केन्द्रीभूत किया हुआ है। 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास की कथा–भूमि में उपन्यासकार संजीव ने पश्चिमी चंपारण के बेतिया अंचल की थारु जनजाति का समाज, जीवन पद्धति, संस्कृति, त्रासदी और डाकू, पुलिस, राजनीतिज्ञ एवं प्रशासन का समावेश किया है। इस उपन्यास में पश्चिमी चम्पारण के थारु आदिवासी समाज का जीवन संघर्ष चित्रित है, इसलिए इसमें उस अंचल विशेष में प्रचलित बोली–बानी का सार्थक प्रयोग कर पात्रों की अंतरंगता एवं मानसिकता को अभिव्यक्त किया गया है। यह थारु आदिवासी भाषा वहाँ के समस्त जीवन–संदर्भों को अपने में समेटे हुए प्रभावशाली ढंग से प्रकट हुई है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है– थारु जनजाति का एक पात्र बिसराम अपनी पुत्री दुलारी की मृत्यु पर विलाप करता हुआ कहता है– ''हमार तो हर तरीका से मौवत लिखल बा ए बेटी! जिमींदार से, डाकू से, देवता–पिता से, भूत–भवानी से, पुलिस–लेखपाल से..., अरे कबन सुख देखलू ए बेटी– ई...ई...ई! तहरा के बचा न सकल बाप ई अभागा– आ... आ... आ...!''(संजीवः जंगल जहाँ शुरू होता है, पृष्ठ सं. 21)

उपन्यास के केन्द्र में है 'मिनी चम्बल' के नाम से जाना जाने वाला पश्चिमी चम्पारण, जहाँ अपराध पहाड़ की तरह नंगा खड़ा है, जंगल की तरह फैला हुआ है, नदियों में दूर–दूर तक बह रहा है, इतिहास के रंध्रों से हवा में घुल रहा है, भूगोल की भूल–भुलैया में डोल रहा है। जनजातियों और जंगली जीवों के बिन्दु से शुरू होकर यह जंगल फैलता ही चला गया हैं– पटना, लखनऊ, दिल्ली, नेपाल और देश देशान्तर तक। उपन्यासकार ने बारह वर्षों के निरंतर श्रमसाध्य शोध से जो अरण्यगाथा पेश की है, वह सर्वथा नई है– जितनी मनोरम, उतनी ही भयावह और

जुगुप्साकारी भी।''(जंगल जहाँ शुरू होता हैः उपन्यास का फ्लैप)

वस्तुतः ऊपरी तौर पर तो यह उपन्यास 'दस्यु–समस्या' को केन्द्र में रखकर लिखा गया प्रतीत होता है, परंतु यह जंगल–राज के रूप में परिवर्तित आज की पूरी समाज व्यवस्था की पर्तो को उधेड़कर सामने लाने वाला एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। (रामचन्द्र तिवारीः हिंदी का गद्य साहित्य, पृ.सं. 199) यह एक अंचल के सम्पूर्ण जीवन के विद्रूप, उसकी प्रकृति, मानवीय विविधता एवं व्यवस्था के यथार्थ, उसकी क्रूरता, बर्बरता और प्रजातंत्र के पर्दानशीन चेहरे का बेबाक पर्दाफाश कर हमारे मन–मस्तिष्क पर दस्तक देकर सोचने पर विवश करता है कि व्यवस्था के कुचक्र में पनपा जंगल खुद हमारे भीतर से ही उगता है और इससे भागने के बजाय लड़ने की महती आवश्यकता है, क्योंकि तभी हम अपने भविष्य को बचा सकेंगे।

'अल्मा कबूतरी' (2000) हिंदी कथा साहित्य की सशक्त हस्ताक्षर मैत्रेयी पुष्पा का आदिवासी संचेतना का बहुत ही चर्चित उपन्यास है। 18 अध्यायों में विभाजित यह उपन्यास बुंदेलखंड की यायावर कबूतरा जनजाति की व्यथा को उजागर करता है। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में एक संघर्षशील जनजाति की विवशताओं का चित्रण करते हुए कबूतरा जनजाति की स्त्रियों के माध्यम से लेखिका स्त्री विमर्श की दुनिया में जनजाति स्त्रियों की संवेदना को मुखर किया है। कबूतरा पुरूष या तो जंगल में रहता है या जेल में और स्त्रियाँ शराब की भट्टियों पर या किसी के बिस्तर पर। उपन्यास की प्रमुख पात्र कदमबाई अपनी बेटे को इन कार्यो को करने से नहीं रोकती और कहती है, ''उसका दारू बेचना, चोरी करना, बार–बार जेल जाना... हमारी बिरादरी का कारोबार यही है, इसमें बुरा क्या है?'' (मैत्रेयी पुष्पाः अल्मा कबूतरी, पृ. 21) उपन्यास की कथा में मडोरा खुर्द गाँव के दो समाज है। पहला समाज कबूतरा जनजाति का है, जिसके चरित्र कदमबाई, भूरी, अल्मा, सरमन, जंगलिया, राणा, रामसिंह, दूलन आदि है। दूसरा सभ्य समाज है, जिसे कबूतरा लोगों की भाषा में 'कज्जा' कहा जाता है। इस सभ्य समाज के चरित्र मंसाराम, केहरसिंह, जोधा, करन, आनंदी, सूरजभान, धीरज और श्रीराम शास्त्री आदि है। इन दो समाजों के अंतर्विरोध और संघर्षमूलक स्थितियों को चिह्नित करते हुये कथावस्तु का विकास एवं विस्तार हुआ है। लेखिका ने इस उपन्यास में कबूतरी जाति के रहन–सहन, खान–पान एवं संस्कृति की विभिन्न पहलूओं को अत्यंत मार्मिक रूप में दर्शाया है।

संजीव का 'सूत्रधार' (2003) उपन्यास के बिहार के अद्‌भुत लोकनर्तक नट सम्राट भिखारी ठाकुर पर आधारित हैं। इसमें 19 वीं सदी के आखिरी चरम में एक गरीब नाई परिवार में जन्मे भिखारी ठाकुर को बचपन से लेकर अपनी लोकप्रियता के चरम उत्कर्ष पर भी कदम–कदम पर जिस भीषण जातिवादी राक्षस का सामना करना पड़ा, उसका कारुणिक एवं विश्वसनीय चित्रण हुआ है।

राकेश कुमार सिंह का 'पठार पर कोहरा' (2003) में झारखंड में रहने वाली जनजातियों के शोषण की करूण कथा है। यह झारखंड के वर्तमान आदिवासी जीवन पर लिखा गया एक सशक्त उपन्यास है। ''जंगलसेना और बेचू तिवारी कातिरेसठ का ऑकड़ा हर खेल में बेंचू तिवारी का साथ देता। वैसे तो क्षेत्र के वन–विभाग के सारे कर्मचारी, ब्लाक अफसर, थाना–पुलिस सभी जानते है कि समस्त कारोबार ढंके तौर पर बाबा गऊवॉ यानी बेचू तिवारी के ही है।'' (राकेश कुमार सिंहः पठार पर कोहरा', पृ. 73) अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद झारखंड के जंगलों में एक नयी शोषक संस्कृति का उदय हुआ। अंग्रेजों ने अपने शासन के समय झारखंड के मूल निवासियों के 'जल–जंगल–जमीन' के पारम्परिक अधिकारों को छीनकर उन्हें इन सभी चीजों से बेदखल कर दिया। आजादी के कई वर्षों बाद भी आदिवासियों की समस्याओं और प्रश्नों की स्थितियों में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है, इस की पुष्टि उपन्यास की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है, ''आजादी के बाद आदिवासियों के कल्याण की सैकड़ों योजनाएँ बनी हैं पर उनके क्रियान्वयन का क्या हुआ? आबंटित राशि का दस प्रतिशत भी देश के आदिवासियों तक नहीं पहुँच रहा। कई योजनाएँ कागज पर चलती रहती हैं। कई योजनाएँ तो फाइलों की कब्र में ही दफन हो गयी, यदि अफसरशाही और राजनीति का यही तालमेल कायम रहा तो पता नहीं कितने समय तक आदिवासी समाज इसी तरह अपढ़, असंस्कृत, भूखा, नंगा, शोषित, उपेक्षित और लोकतंत्र के ज्ञान एवं विज्ञान से कटा–कटा रहेगा।'' (राकेश कुमार सिंहः पहाड़ पर कोहरा, पृ. सं. 137)

मधुकर सिंह ने 'बाजत अनहद ढ़ोल' (2005) उपन्यास में झारखंड के संथाल आदिवासियों की अंग्रेज साम्राज्य के खिलाफ किए गए संग्राम की पृष्ठभूमि में लिखी महागाथा है। भारत में झारखंड वासियों ने ही अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ बगावत का बिगुल सर्वप्रथम बजाया था। इस बगावत के पुरोधा संथाल हुल के नायक सिध्दो, कान्हो, चॉद, भैरो थे। इनके नेतृत्व में संथाल परगना में व्यापक जनांदोलन चलाया गया। आदिवासियों मे देशप्रेम, स्वाधीनता की चेतना, अपने जल–जंगल–जमीन के लिए मर मिटने का जज्बा इन नायकों ने जगाया। सिधो,

कान्हो, चॉद, भैरो, वीर सिंह माझी के नेतृत्व में आदिवासी संगठित हुए। इन जननायकों के कारण ही अंग्रेजों को देश से खदेड़ने का हौसला बुलंद हुआ। आदिवासियों में देशप्रेम की चेतना जागृत हुई– ''हमारी धरती खाली कर अपने देश चले जाओ। पहाड, नदी, झरना, खेत सब कुछ हमारा हैं, पूरा संथाल परगना हमारा है। पहाड़ काटकर, जंगल साफ कर हमने खेत बनाए हैं। उन खेतों पर लगान–मजूरी तय करने का काम तुम्हारा नहीं है।'' संथालों ने तत्कालीन कम्पनी सरकार की शासन व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था और न्याय व्यवस्था के विरूद्ध मोर्चा बन्द होकर हथियार उठाये थे किन्तु कम्पनी सरकार ने इसे विद्रोह करार दिया। आदिवासियों ने परंपरागत छापामारी युद्ध, तीर–धनुष, भालों से आधुनिक हथियारों से लैस अततायी अंग्रेजों का बड़े साहस से मुकाबला करते हुए वीरभूमि तक कब्जा जमाया इससे ब्रितानिया शासनकर्ता बौखला गये। छल और कपट का सहारा लेते हुए– ''ब्रिटिश शासन फौजियों ने जुल्म का नंगा नाच शुरू कर दिया। हजारों संथाल जवान, बच्चे, औरतें और बूढ़े मार दिए गए संथाल बस्तियाँ वीरान कर दी गयी।'' (मधुकर सिंह, 'बाजत अनहद ढ़ोल', पृ. 113) अंग्रेजों ने खून की नदियाँ बहायी, बर्बरता को पराकाष्ठा पर पहुँचाया, कत्ल का सिलसिला चलाया। बूढ़ें, बच्चों, महिलाओं, जवानों पर मुकदमें चलाए, कारागार में बंद किया। सिदो को पकडकर फाँसी दे दी गयी। फिर भी संतालियों की आजादी और अस्मिता की भावनाएँ कम नही हुई। अंततः सरकार ने पूरे संथाल परगना में 14 नवंबर 1855 में मार्शल लॉ लागू कर दिया और बडी निर्ममता से संथाल विद्रोह को दबा दिया।

विनोद कुमार का 'समर शेष है' (2005) उपन्यास संथाल समुदाय, शीबू सोरेन के घनकटनी आंदोलन एवं झारखंड के दसू रे लड़ाकू आंदोलनों पर केंद्रित हैं।

उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' (2005) में राकेश कुमार सिंह ने अंग्रेजों के खिलाफ संथालों द्वारा सन् 1855–56 को किये गए ऐतिहासिक विद्रोह 'हूल' को तथ्यात्मक आधारों से परिभाषित करता है। इस उपन्यास में राष्ट्रवादी चेतना के प्रतीक रहे आदिवासी वीर सिद्धों, कान्हू, चाँद और भैरव के बलिदान को दर्शाया है जो चरित्र अभी तक इतिहास से अलक्षित रहे थे।

लेखिका शरद सिंह के 'पिछले पन्ने की औरतें' (2005) में मध्यप्रदेश के बुंदेलखंड़ की बेड़िया जनजाति की महिलाओं को केंद्र में रखा है। सदियों से उपेक्षित, वंचित, उत्पीड़ित एवं आर्थिक बदहाली का जीवन जी रहीं बेड़िया समाज

की औरतों के जीवन कटुसत्य को इस उपन्यास में उजागर किया है। बेड़िया समाज में जीवनयापन मुख्य साधन नाच–गाना और वेश्यावृत्ति ही माना जाता है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने बेड़ियॉ समुदाय की उत्पत्ति से लेकर उनके वर्तमान तक का विस्तृत लेखा–जोखा रखा है। स्त्री–विमर्श पर आधारित इस उपन्यास में सदियों से दलित, उत्पीड़ित, शोषित एवं उपेक्षित स्त्रियों की जीवन दशाओं एवं उनसे जुड़ी समस्याओं को बेबाक रूप में प्रस्तुत करते हुए बहुत से दबे प्रश्नों को बहुत ही जीवंतता के साथ उजागर किया है। बेडनियों उपस्थिति तो समाज में होती है, परंतु इनके प्रति संवेदना कभी–कभार ही नजर आती है। अधिकतर लोगों के लिए बेड़नी मात्र नाचने–गाने वाली औरतें हैं, उन्हे हर कोई भोग्या के रूप में भोग सकता है। उपन्यास की पात्र नचनारी ठाकुर के बच्चे की मां बननेवाली है, वह जब ठाकुर से इसके बारे में बताती है तब ठाकुर उदासिन भाव से उसके हाथ में कुछ पैसे थमाते हुए कहता है– ''जब पैदा हो जाए तो सूचित करना.... जब आवश्यकता हो तो और खर्चा पानी मांग लेना।'' (शरद सिंहः पिछले पन्ने की औरतें, पृष्ठ 27) ब्रिटिश सरकार ने अपराधिक जनजाति अधिनियम के अंतर्गत अनेक जनजातियों को जरायमपेशा करार दिया, जिनमें से एक बेड़ियाँ जनजाति थी। स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय संविधान ने इस अधिनियम को हटा दिया, किन्तु अनेक जनजातियाँ आज भी उस कलंक को पूर्ववत ढो रही हैं। समाज की पूर्वाग्रहपूर्ण मानसिकता ने उन्हें गैर कानूनी एवं अपराधपूर्ण कार्यों के लिए प्रेरित किया है। ''अन्य समाज में वेश्यावृत्ति को हेय दृष्टि से देखा जाता है किन्तु बेड़ियॉ समाज में वेश्यावृत्ति को निम्न अथवा हेय नहीं माना जाता..... वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियाँ अपने समाज और परिवार में अपेक्षाकृत अधिक अधिकार प्राप्त होती है..... वे अपनी देह का उपयोग यौन संबंधों के लिए तो करती ही रही है साथ ही चोरी करने में भी अपनी देह का भरपूर उपयोग करती हैं।''(शरद सिंहः पिछले पन्ने की औरतें, पृष्ठ 68)

श्रीप्रकाश मिश्र कृत 'रूपतिल्ली की कथा' (2006) उपन्यास में खासी जनजातियों के जीवन–संघर्ष और संस्कृति के विविध पक्षों को जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। 'रूपतिल्ली की कथा' उपन्यास की समूची अंतर्वस्तु अंग्रेजों के दमन के प्रति पहाड़ी इलाकों में बसने वाली खासी जनजाति के संघर्ष की घटनाओं और विद्रोह की चेतना का परिलक्षण कराती है।

रामनाथ शिवेंद्र द्वारा रचित 'तीसरा रास्ता' (2008) उपन्यास आदिवासियों के विस्थापन, शोषण, उत्पीड़न और व्यवस्था के दमनचक्र में पिसते सोनपुर जनपद

के आदिवासियों की नियति को बहुत ही बेबाकी के साथ उजागर करता है। आज गैर सरकारी संगठन कुकुरमुत्ते की भांति उग आये हैं, जिनका काम मात्र भोले–भाले आदिवासियों का शोषण करना बन गया है, न कि उनकी समस्याओं को सुलझाना। इस उपन्यास में उनकी कार्यप्रणाली और भूमिका पर उपन्यासकार द्वारा बहुत ही तीखेपन से सवाल उठाये हैं। उपन्यास में 'मानवाधिकार जनसमिति' नामक गैर सरकारी संगठन का कर्ताधर्ता और उसकी सहायक प्रो0 मधु निहलानी ऐसा ही शातिर और शैतान है, जो एन.जी.ओ. के माध्यम से विकास का छलवा भ्रम पैदा करता है। वस्तुतः उनके हाथ में समाज को बदलने की ताकत और साधन दोनों होने के बावजूद वे आदिवासी समाज के शोषक और भक्षक बने हुए हैं। सरकार सोनपुर जनपद में 'मानवाधिकार जनसमिति' इस गैर–सरकारी संगठन की सुधा के नेतृत्व में बांध की परियोजना बनाती है। जहाँ बांध निर्माण प्रस्तावित है, उस प्रस्तावित क्षेत्र में आदिवासी पीढ़ी–दर–पीढ़ी निवास करते आए है। वह इलाका आदिवासियों का ही है लेकिन, ''सरकार ने मान लिया था कि जंगल में इन आदिवासियों के रहवास ही अवैधानिक हैं, इन्हे कोई विधिक अधिकार नहीं कि ये यहाँ रहवास करें।''(रामनाथ शिवेंद्र, 'तीसरा रास्ता', पृ.107)

भगवानदास मोरवाल का 'रेत' (2008) में प्रकाशित जरायम– पेशा कंजर जनजाति पर लिखा उपन्यास है, जो कि माना गुरू और माँ नलिन्या की संतान कंजर और उनके समग्र जीवन को आधार बनाकर लिख गया है। तथाकथित सभ्य समाज द्वारा तिरस्कृत बस्ती में जाकर उपन्यासकार ने कंजरों के जीवन के अंतरंग को परत–दर–परत खोलकर समाज के सामने रखकर मानव समाज की भयावाहता को प्रस्तुत किया है। ब्रिटिश शासन द्वारा जयरामपेशा घोषित कंजर जाति आज भी कई प्रकार से उस दंश से ग्रसित है। उपन्यास की पात्र कमला बुआ कहती है– ''दरोगा जी एक बात कहूँ। इस मुलक में हम तो आज भी वैसे ही हैं, जैसे फिरंगियों के जमाने में थे। पहले फिरंगियों और उनके दलाल पिट्ठुओं ने हमारा जीना मुहाल कर रखा था और अब इन देसी फिरंगियों ने।'' (भगवानदास मोरवाल, 'रेत', पृ. 35) जरायम–पेशा कंजर समाज में सबसे अधिक दुर्दशा उस स्त्री की होती है जो विवाह कर 'भाभी' बन जाती है। इसके विपरित सुखमय जीवन उसका है जो 'बुआ' बनकर देह–व्यापार करती हुइ खिलावड़ी कहलाती है। राजस्थान एवं मध्य प्रदेश के बेड़ियों की तरह ही इस उपन्यास क्षेत्र के कंजरों में भी देह–व्यापार को खुले आम स्वीकृति प्राप्त है। जो देह–व्यापार करती है वह घर की खरी मालकिन होती है। भाभियों को यहां कोई महत्व और स्थान नहीं है न उनका

कोई भविष्य होता है और न वर्तमान। जीवन–भर खिलावड़ी, ननंदों, भतीजियों यहॉ तक कि बेटियों की तिमारदारी में लगे रहो और भावी खिलावड़ियों को पैदा करना ही उनका कर्तव्य माना जाता है। ऐसे समूचे जीवन को तथाकथित सभ्य समाज कलंकित, घृणित और निंदनीय मानता है। पर इसमें अपराध किसका है? समूचे उपन्यास में सामाजिक अन्याय बोध, उससे उत्पन्न वेदना, विद्रोह और प्रतिक्रिया दिखती है, उसे रचनाकार ने उजागर किया है।

'धूणी तपे तीर' (2008) हरिराम मीणा द्वारा रचित दक्षिणी राजस्थान के भील आदिवासियों के जीवन पर आधारित भील सूरमाओं की शहादत पर आधारित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लिए हुए बहुत ही उम्दा उपन्यास है जिसमें बांसवाड़ा जिले में गोविन्द गुरू के नेतृत्व में आदिवासी भीलों ने अंग्रेजी एवं देशी सामंती शासकों के विरूद्ध एक लंबी लड़ाई लड़ते हुए अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए अपनें प्राणों की आहुति दी, परंतु इस शहादत का, जिसमें 1500 से अधिक आदिवासी शहीद हुए, ऐतिहासिक ग्रंथों में उल्लेख तक नहीं किया गया। इस उपन्यास में दक्षिणी राजस्थान के आदिवासियों पर देशी रियासतों के शासक और फिरंगियों के द्वारा किए जानेवाले अत्याचार, दमनचक्र, शोशण, उत्पीड़न, अभाव, गरीबी, भूखमरी, महामारी से त्रस्त जीवन का बहुत ही सजीव चित्रण मिलता है। ''गोविन्द गुरू... भूरेटिया अर्थात फिरंगियों को अपना असली दुश्मन मानते थें चूँकि उन्हीं के कारण देसी राजाओं ने आदिवासी विरोधी नीतियाँ लागू की थीं... अंग्रेजों का सत्ता–केंद्र दिल्ली था..... गोविन्द गुरू का अंतिम लक्ष्य दिल्ली की गद्दी था। अर्थात अंग्रेजी राज का खात्मा। उनका सपना था भविष्य में आदिवासी पंचायत राज करें। उनकी विचारधारा का केंन्द्रीय भाव आदिवासियों को कष्टों से मुक्ति दिलाना था।''(हरिराम मीणा, 'धूणी तपे तीर', पृ. 309)

'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009) रणेंद्र द्वारा लिखा गया उपन्यास है जिसमें झारखंड के आदिवासी असुर समुदाय के जीवन को केंद्र में रखकर लिखी गई महागाथा है। असुरों का अपने अस्तित्व, आत्मसम्मान एवं अस्मिता के लिए चल रहा अनवरत दीर्घकालीन संघर्ष और सतत् मिटते जाने की प्रक्रिया का बहुत ही हृदयविदारक चित्रण रणेंद्र द्वारा किया गया है। असुर समुदाय दुर्दशा और सवर्ण समाज की बदनियति आज से नहीं है, वैदिक काल से वर्तमान तक असुर कहे जाने वाले आदिवासी सामाजिक कुचक्रों का शिकार हैं। उपन्यास में पात्र रूमझूम असुर कहता है, ''हजार साल में कितने इन्द्रों, कितने पांडवों, कितने सिंगबोंगा ने कितनी–कितनी बार हमारा विनाश किया, कितने गढ़ ध्वस्त किए, उसकी कोई

गणना किसी इतिहास में दर्ज नहीं है। केवल लोक कथाओं और मिथकों मे हम जिन्दा है।'' (रणेंद्र, 'ग्लोबल गॉव के देवता', पृ. 43) उपन्यासकार के अनुसार– ''बदहाल जिंदगी गुजारती, संस्कृति–विहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन। शायद मुख्यधारा पूरा निगल जाने में ही विश्वास करती है... छाती ठोंक–ठोंककर अपने को अत्यंत सहिष्णु और उदार कहने वाली हिन्दुस्तानी संस्कृति ने असुरों के लिए इतनी भी जगह नहीं छोड़ी थी। वे उनके लिए बस मिथकों के शेष थे। कोई साहित्य नहीं कोई इतिहास नहीं, कोई अजायबघर नहीं। विनाश की कहानियों के कहीं–कोई संकेत मात्र भी नहीं।''(रणेंद्र, 'ग्लोबल गॉव के देवता', पृ.33) यह उपन्यास असुर समुदाय के अनवरत जीवन संघर्ष को पूरी जीवंतता और प्रामाणिकता से प्रस्तुत करता है। देवराज इंद्र से लेकर टाटा, हिंडाल्को, वेदांग जैसे ग्लोबल गांव के देवताओं तक फैले शोषण और दमनचक्र को उजागर करते हुए रणेंद्र ने सदियों से उपेक्षित, हाशिए का जीवन जीते असुर समुदाय का सुखः–दुख, व्यथा प्रस्तुत करते हुए असुरों के लोकजीवन के पक्ष को भी पूरी तरह से स्पर्श किया है। असुरों के रहन–सहन, परिवार, रस्म–रिवाज, लोकाचार, पर्व–त्यौहार, विश्वास, परंपराएं, धर्म, संस्कृति, संस्कार, पूजा–पद्धति, मान्यताएं आदि को भी इस उपन्यास में रेखांकित किया है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक के आरंभ से भूमंडलीकरण और विश्वग्राम की संकल्पनाओं ने भारतीय मानस को सबसे ज्यादा प्रभावित किया है। इस भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी जीवन पर कई सारे प्रभाव और परिणाम हुए है। इन प्रभावों और परिणामों को लक्षित करते हुए रणेन्द्र ने 'ग्लोबल गाँव के देवता' में विकास के नाम पर विस्थापित होने के लिए मजबूर हुई असुर जनजाति की व्यथा–कथा का अभूतपूर्व चित्रण किया है। आदिवासी आधुनिकता की प्रक्रिया में रोज ठगे जा रहे हैं और इस वैश्वीकरण फंडे ने तो उनका अस्तित्व ही समाप्ति के कगार पर ला दिया है। उपन्यास में सभ्य समाज के स्वार्थी किस्म के लोगों में राजनेता, पूँजीपति, ठेकेदार, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मालिक और मैनेजर, धार्मिक मठों के मालिक बने बाबा–महंत और पुजारी, पुलिसकर्मी, कलेक्टर आदि सब आते है। जिनके नाम मैनेजर श्री कन्हैया पांडेय, मिश्राजी, वर्माजी, गुप्ताजी, चपरासी दूबे, शिवदास बाबा आदि है। यह सभी उपनाम वाले चरित्र भारतीय वर्ण–जाति व्यवस्था में शीर्षस्थ रहे ब्राह्मण समाज के हैं। इन सभी उच्चजातिय चरित्रों की मिली–भगत से विकास के नाम पर असुरों की जमीन हथियाने के षडयंत्र चलते रहते है। इनकी स्वार्थवृत्ति, भाई–भतीजावाद एवं शोषण की प्रवृत्ति के कारण असुर समाज विस्थापित होने को मजबूर है। जिसका

पर्दाफाश उपन्यासकार शिद्दत और साहस से करते हैं। झारखंड के बरवे जिले के अंतर्गत आने वाला कोयलबीघा का भौंरापाट गाँव है। इस इलाके की भूमि में बाक्साइट मिलता है। जिसको प्राप्त करने के उद्देश्य से कई सारी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का निर्माण वहाँ पर हुआ है। उसी में से वेदांग और हिंडाल्को कम्पनियाँ अपने उत्पन्न में एक नम्बर पर है। उपन्यासकार की दृष्टि में "ग्लोबल गाँव का सबसे बड़ा देवता वेदांग है। यह उँगली पकड़कर बाँह पकड़ने वाली बात लगती है। यह कंपनी है विदेशी और नाम रखा है 'वेदांग', जैसे प्योर देशी हो। कितना चालू–पुर्जा है इसी से पता चलता है।" (ग्लोबल गाँव के देवता– रणेन्द्र, पृष्ठ, 8)

संजीव बख्शी के 'भूलन कांदा' उपन्यास का शीर्षक 'भूलन कांदा' पाठकों को पहली नजर में अपने अबूझ अर्थ के कारण थोड़ी उलझन में डालता है, लेकिन जैसे ही इसकी अर्थ–छवि स्पष्ट होती है, तो इसका जादुई यथार्थ विस्मित करता है। उपन्यास के प्रारम्भ में लेखक ने 'भूलन कांदा' के बारे में स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'छत्तीसगढ़ के जंगलों में भूलन कांदा देखा जाता है। गलती से किसी का पैर पड़ गया इस पर तो वह भटक जाता है। दिखता है तो सब ओर पेड़ ही पेड़, रास्ता नहीं दिखता। कोई निकलता है गाँव का इधर से, समझ जाता है यह भूलन का काम है। वह पास आकर उसे बस छू लेता है कि फिर से सब कुछ वैसा का वैसा दिखने लगता है। यह किवदंती नहीं, सत्य है। यह अजीब–सा लगता है, पर यह मौजूद है छत्तीसगढ़ के जंगलों में।' इस सूचना के बाद जब लेखक कथा का आरम्भ करता है, तो वाकई पाठकों का पाँव भूलन पर पड़ जाता है और तभी वह भूलन–लोक से वापस लौट पाता है, जब उपन्यास समाप्त होता है। एक ऐसा उपन्यास जो आदिवासी जीवन के बारे में कोई मायालोक नहीं रचता है, न उनके शोषण–दमन को लेकर समकालीन पेशेवर आलोचना की भाषा में कहें तो कोई 'विमर्श' या 'आख्यान' रचता है। 'भूलन कांदा' वस्तुतः सीधे–साधे आदिवासियों की सहज–कथा को उन्हीं की ठेठ भाषा, स्थानीय शब्दावली और जीवन–शैली को गहराई और प्रामाणिकता के साथ बयान करने वाला उपन्यास है। उपन्यासकार आदिवासी समाज के शब्द प्रयोग को लेकर बेहद साकांक्ष है, 'जानवर बोलने से कोई भी जानवर, पर जनावर बोलने का मतलब होता है शेर।' (संजीव बख्शीः भूलन कांदा, पृ.10) उन्हें यह बारीकी भी मालूम है कि छत्तीसगढ़ के गाँवों में बैठने के कौन–कौनसा स्थान होता है, देखिए, नवागाँव में कहाँ बैठेंगे चौरा में कि गुड़ी में।' (संजीव बख्शीः भूलन कांदा, पृ. सं.10) आदिवासी समाज की सामाजिक संरचना कैसी है, यह देखिए, 'कभी आठ घर का था यह बाबू नवागाँव, जो आज इकत्तीस

घर का हो गया। एक सौ पचास के लगभग आबादी। कोटवार का एक–दो परिवार लोहार, बढ़ई, नाई, कुम्हार के लगभग पाँच–सात परिवार को छोड़ सब गोंड ठाकुर।' (संजीव बख्शीः भूलन कांदा, पृ. सं.13) लोगों के नाम कैसे–कैसे हैं, 'भकला, लेडगा, खोरबहरा, कलुवा, डेरहा, फोसवा, बिज्जू...(संजीव बख्शीः भूलन कांदा, पृ. सं.13) आमतौर पर गाँव में बेटे–बेटियों की ब्याह–शादी माता–पिता की जिम्मेदारी होती है, लेकिन इस गाँव में मातृ–पितृविहीन भकला की शादी की जिम्मेदारी पूरे गाँव की जिम्मेदारी है। भकला की शादी का प्रसंग देखें, गाँव में फैसला हुआ कि घर पीछे दो थैली चावल और दस रुपिया सब हड़मा को देंगे। फिर वह छोटे का ब्याह करेगा, कमी बेशी मुखिया पूरी कर देंगे। सादगी से सब कुछ होगा।' (संजीव बख्शीः भूलन कांदा, पृ. सं.16) आदिवासी समाज की इतनी सूक्ष्मतम जानकारी उसी व्यक्ति को हो सकती है, जिसने बहुत बारीकी से उनके जीवन, उनके रहन–सहन को देखा हो। उनके जीवन के सुख–दुःख को हृदय से महसूस किया हो। उनके भोलेपन, उनकी जिद, उनके बोली–बानी को किसी शोध या नृतत्वशास्त्रा की सहायता से नहीं जान सकता है, इसके लिए आदिवासियों के जीवन को महसूस करना आवश्यक है।

'गाथा भोगनपुरी' उपन्यास किशोर कुमार सिन्हा द्वारा रचित है जो कि बुंदेलखंड से संबंधित एक बंधुआ मजदूर के जीवनवृत्त पर आधारित है। इस उपन्यास में युवा प्रशासनिक अधिकारी अपने आस–पास मजदूरों और आदिवासियों को अन्याय से पिसते, शोषित होते देखता है और उनका पक्ष लेने का जोखिम उठाता है। उपन्यास में आदिवासियों की बस्ती को उपन्यासकार ने अत्यंत जीवंत रूप में प्रस्तुत किया है, ''गाँव का तीसरा हिस्सा, जो कि इन दोनों हिस्सों से काफी दूर था, आदिवासियों का हिस्सा था। वहाँ मकान नाम की कोई चीज नहीं थी। सब झोपड़े थे। इन झोपड़ों की संख्या घटती–बढ़ती थी, क्योंकि ये आदिवासी एक जगह ज्यादा दिन टिककर रहने के आदि नहीं थे। जंगल के खुले वातावरण में पले–बसे ये लोग अभी तक पक्के बंद मकानों में रहने के आदि नहीं हो पाये थे। जंगल की लकड़ी बीनना, शहद इकट्ठा करना, जंगली जानवरों का शिकार, तेंदु की पत्ती, कहीं–कहीं खेती–बस यही सब था, जो ये लोग करते थे।'' (किशोर कुमार सिन्हा : गाथा मोगनपुरी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं. 14)

''उड़िया उपन्यासकार प्रतिभा राय 'आदिभूमि' उपन्यास में ओड़ीसा के बोंडा आदिवासी समाज की कथा कहते हुए नजवा सरीखे एक पात्र को रचती हैं– लछमी टोकी। बात–बात पर जहर बुझे तीर छोड़कर अपने संगी–साथी को मौत

की नींद सुला देने वाला बोंडा समाज मूलतः 'मानुषमारू' समाज है जहाँ हत्या करके छुपने का जतन नहीं किया जाता, जेल में बंद करने के आग्रह के साथ पुलिस के समक्ष आत्मसमर्पण किया जाता है ताकि चौदह साल जेल की सलाखों के पीछे जान की सलामती का आश्वासन मिल सके। लौटने पर फिर वही हत्या और जेल का क्रम। यानी बोंडा पुरुष–समाज बारह–चौदह वर्ष की वय में किसी का तीर खाकर जान से हाथ धो बैठता है या किसी को तीर से सुला कर जेल में जीकर तिल–तिल मृत्यु की बाट देखता है। अनिश्चितताओं से भरे उस समाज में सिर्फ एक ही चीज निश्चित है– मृत्यु।''(डॉ. रोहिणी अग्रवाल (http://www. hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=4358&pageno=1) ''संस्कृति को सिर्फ बाहर से नहीं देखा जा सकता और न ही यह दिखाने की चीज है। बाहर–बाहर से देखकर इसे पूरी तरह अभिव्यक्त कर पाना सम्भव भी नहीं है। दरअसल संस्कृति को अपने अन्दर अनुभव कर, उसमें रच–बस कर ही उसकी बहुरंगी छवियाँ उकेरी जा सकती हैं। प्रख्यात उड़िया कथाकार प्रतिभा राय ने अपने इस उपन्यास 'आदिभूमि' में यही किया है। 'आदिभूमि' उड़ीसा के बोंडा आदिवासी जन–जीवन और उसके परिवेश की जीवंत कथा है। इसमें आदिमानव– समाज का प्रतिनिधित्व कर रही बोंडा जनजाति का चित्रण है। यह बोण्डा के पारम्परिक जीवन–मूल्यों, आवेगों और विश्वासों के साथ ही आज के सांस्कृतिक और आर्थिक वैश्वीकरण के दौर में विकास के नाम पर आधुनिक समाज द्वारा हो रहे उनके दोहन–शोषण और उससे उपजी विकृतियों की गाथा है। इस उपन्यास में पाँच पीढ़ियों की कहानी है, जिसमें प्रागैतिहासिक बोंडा जीवन और समाज के सुख–दुःख, जय–पराजय, उसके द्वन्द्व और संघर्ष आदि विविध पक्षों को लेकर पूरी एक शताब्दी में फैले कथानक का तानाबाना चुना गया है। कहा जा सकता है कि यह हमारे समय का, मानव के शुद्ध रूप और उसकी सात्विक भावना का एक विराट फलक पर रचा गया एक महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक दस्तावेज है।'' (http://pustak.org/home.php?bookid=410)

उड़िया से अनूदित गोपीनाथ महंती के उपन्यास 'अमृत संतान' में कंध आदिवासियों एवं 'परजा' में परजा आदिवासियों की जीवन शैली चित्रित है। यह उपन्यास इसमें आजाद भारत में वर्तमान तकनीकी से अनभिज्ञ धार्मिक अंधविश्वासों मे फँसे आदिवासियों की करूण गाथा का वर्णन है। उपन्यास सरकार के द्वारा प्रस्तावित विकास की परियोजनाओं की असफलता को दर्शाता है। कथावस्तु में विकास की परियोजनाओं को लेकर दो गाँवों के आदिवासियों में उत्पन्न होने वाले संघर्ष और विस्थापित जीवन के दुख–दर्द की व्यथाओं को भी अभिव्यक्त किया गया

है। उड़िया से अनूदित गोपीनाथ मोहंती के उपन्यास 'अमृत सतांन' में कंध आदिवासियों एवं 'परजा' में परजा आदिवासियों की जीवन शैली चित्रित है।

आदिवासी विमर्श को साम्प्रतिक जीवन की समस्याओं से जोड़कर प्रस्तुत करने वाले भी कई लिखे चुके हैं। मधु कांकरिया के उपन्यास 'खुले जंगल के लाल सितारे' में नक्सल आंदोलन के साथ आदिवासियों के संबंधों का विवरण है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त मधुकर सिंह के 'बाजत अनहद ढोल' में भी संथाल समुदाय वर्णित हैं। जयप्रकाश भारती के 'कोहरे में खोये चाँदी के पहाड़' में राजस्थान की जौनसार बाबर जनजाति की कथा रूपायित है। हिमांशु जोशी के 'महासागर' में निकोबार द्वीप की जनजातीय सस्कृति प्रस्तुत की गई है। पुन्नी सिंह के 'सहराना' उपन्यास में सहरिया आदिवासी समाज की व्यथा–कथा रेखांकित हैं। मेहरून्निसा परवेज कृत ''कोरजा' उपन्यास बस्तर के आदिवासियों के जनजीवन को उकरने वाला बहुत सुंदर उपन्यास है। इसमें स्थानीय रीतिरिवाजों, रूढ़ियों का बहुत ही सुंदर चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में नानी कहती है– 'कि अगर हांडी में बरसात के पानी को जमा कर उसे मंत्र पढ़कर जमीन में गाड़ दे तो पानी को बांधा जा सकता है।' बस्तर क्षेत्र में मान्यता है कि अगर किसी कुंआरी कन्या को नग्न करके, उसके हाथों सूप में राख रखवाकर फटकवा देने से जो राख उड़ती है उससे पानी से भरे बादल उड़ जाते हैं। इस मंत्र को उल्टा पढ़ने पर यह बंधा मंत्र खुल जाता है और वर्षा शुरू हो जाती है। परवेज के आंखों की दहलीज, उसका घर, अकेला पलास आदिवासी जनजीवन पर आधारित बहुत ही श्रेष्ठ उपन्यास हैं। राकेश वत्स का 'जंगल के आस–पास', रमणिका गुप्ता का 'मौसी और सीता', 'निज घरे परदेसी', श्रवण कुमार गोस्वामी का 'चक्रव्यूह और हस्तक्षेप', सुरेशचंद्र श्रीवास्तव का 'वनतरी', शानी का 'कस्तूरी', राजेन्द्र मोहन भटनागर का 'मगरी मानगढ़ः गोविन्द गिरी', योगेन्द्र नाथ सिन्हा का 'वन लक्ष्मी' एवं 'वन के मन', संथाल आदिवासियों के जीवनाधारित रामानंद का 'कोरा कुमारी' उपन्यास, संतोष प्रीतम कृत 'पलास के फूल', गोंड जनजाति पर केंद्रित उपन्यासों में वृंदावन लाल वर्मा का 'कचनार', शानी का 'साल वनों के द्वीप' गोडों की उपजाति माड़िया गोंड पर आधारित, उपमहाद्वपीय आदिवासी क्रांति आधारित डॉ0 वि0 भि0 कोलते का 'महात्मा रावण', मालवा क्षेत्र के भीलों की जीवन गाथा श्याम परमार का 'मोरझल', राजस्थान की जौनसार बाबर जनजाति पर आधारित जयप्रकाश भारती का 'कोहरे में खोये चाँदी के पहाड़', निकोबार द्वीप की जनजातीय सस्कृति पर केंद्रित हिमांशु जोशी का 'महासागर' तथा गुरुवचन सिंह कृत 'वनपाखी' आदिवासी संचेतना के

बहुत ही अच्छे और दीर्घकालीन प्रभाव वाले उपन्यास हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उपन्यास विधा ने आदिवासी जनजीवन से संबंधित विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है, भारत भूमि के मूल निवासियों को वास्तविक अस्मिता, उनका हक दिलाने की दिशा की समाज को जागृत करने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। उपन्यासकारों द्वारा आदिवासियों की बहुत सी समस्याओं को उजागर किया जा चुका है और अभी भी बहुत कुछ शेष है, जिसे आगामी समय में निश्चित रूप से जनसामान्य के समक्ष लाया जाएगा और वो समय भी एक दिन आएगा जब मुख्य धारा से पूर्ण रूप से हाशियाकृत किए आदिवासियों को भी अपना वास्तविक हक प्राप्त होगा।

संदर्भ–

1. प्रतिभा राय, आदिभूमि, पृ.सं. 294
2. डॉ.दिनेश्वर प्रसाद (http://pathaar.wordpress.com/ author/ vinodranchi/page/8/#)
3. प्रेमचंदः कुछ विचार, डायमंडल पाकेट बुक्स दिल्ली
4. डॉ. त्रिभुवनः हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद(1973), हिंदी प्रचारक संस्थान वाराणसी
5. हजारी प्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास (1992), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
6. ऑयन वाट उपन्यास का उदय (1990), हरियाणा साहित्य अकादमी
7. डॉ. इंदिरा जोशीः हिंदी आंचलिक उपन्यास उद्‌भव और विकास (1985) देवनागर प्रकाशन, जयपुर
8. जय सिंहः कलावे (1961), लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर
9. डॉ. रामगोपाल चौहानः आधुनिक हिंदी साहित्य, पृ. सं.21
10. रांगेय राघवः कब तक पुकारूँ (1993), राजपाल एंड संस, दिल्ली
11. राजेन्द्र अवस्थीः जंगल के फूल, (1960), राजपाल एंड संस, दिल्ली
12. महाश्वेता देवीः जंगल के दावेदार (1975), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
13. संजीवः किशनगढ़ के अहेरी, पृ.सं.125
14. समीक्षा– संपा. गोपाल राय, हरदयाल, अप्रैल–जून, 2006, वर्ष 39,

अंक–01, (समीक्षा– जो इतिहास में नहीं है– प्रेम शशांक)
15. मनमोहन पाठकः गगन घटा घहरानी (1991), कतार प्रकाशन, धनबाद
16. अरूण प्रकाशः हंस–सितंबर 1993
17. संजीवः जंगल जहाँ शुरू होता है, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली पृ. स. 17
18. श्री प्रकाश मिश्रः जहाँ बास फूलते हैं, पाइर्व प्रकाशन, अहमदाबाद
19. तेजिन्दरः काला पादरी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,
20. संजीवः जंगल जहाँ शुरू होता है (2001), राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
21. मैत्रेयी पुष्पाः अल्मा कबूतरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
22. राकेश कुमार सिंह, 'पठार पर कोहरा' (2003), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
23. मधुकर सिंह, 'बाजत अनहद ढ़ोल' (2005) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
24. शरद सिंहः पिछले पन्ने की औरतें, (2005) सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
25. रामनाथ शिवेंद्र, 'तीसरा रास्ता', (2010) पिलग्रिम्स पब्लिकेशन्स, वाराणसी
26. भगवानदास मोरवाल, 'रेत', (2008) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
27. हरिराम मीणा, 'धूणी तपे तीर' (2008) साहित्य उपक्रम, हरियाणा
28. रणेंद्र, 'ग्लोबल गॉव के देवता' (2010) पृ.43, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली,
29. संजीव बख्शीः भूलन कांदा
30. डॉ. रोहिणी अग्रवाल (http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=4358&pageno=1)
31. http://pustak.org/home.php?bookid=410
32. http://www.dalitsahitya.com

सहायक प्रोफेसर (हिंदी)
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
जलेसर, एटा (उत्तर प्रदेश)
दूरभाष–7500573935
ईमेल– vickysingh4675@gmail.com

आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासों के मूल्यांकन का संदर्भ

-डॉ. सुनील कुमार द्विवेदी

आज का यह उत्तर आधुनिक दौर कई अस्मिताओं का दौर है। प्रत्येक स्तर पर, फिर चाहे वह मानवीय हो या लैंगिक हो या पारिवारिक हो या क्षेत्रीय हो प्रांतीय हो या राष्ट्रीय हो या अंतर्राष्ट्रीय हो या सांस्कृतिक हो या भाषायी हो या धार्मिक इत्यादि–इत्यादि, आज व्यक्ति की एक पृथक अस्मिता का दर्शन हमें होता ही रहता है। अस्मिता के बोध का प्रश्न आज बहुत ही महत्वपूर्ण हो चला है। यथा हमें विदित है कि आधुनिक काल में अस्मिताबोध के बूते दुनिया की बड़ी–बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी और जीती गई हैं। पुनःच, यह एक मानी हुई बात है कि जब किसी देश पर किसी औपनिवेशिक शक्ति का कब्जा होता है तो वह औपनिवेशिक शक्ति सबसे पहला काम यह करना चाहती है कि किसी भी प्रकार से उपनिवेशित देश की पहचान को नष्ट कर दिया जाए। ऐसा होते ही वह वहाँ की भाषा, संस्कृति, साहित्य और इतिहास को धो–पोंछकर उसके स्थान पर अपने द्वारा 'प्रोजेक्टेड' भाषा, संस्कृति, साहित्य और इतिहास को उस देश में 'इंजेक्ट' कर देती है। यह उस औपनिवेशिक शक्ति का स्थायी तौर पर वहाँ राज करने का षड़यंत्र होता है। हमारे समक्ष दक्षिण अमेरिका का ज्वलंत उदाहरण विद्यमान है। दूसरी ओर, उपनिवेशित देशों में ऐसे में अस्मिताबोध का प्रश्न उभरता है। इसके साथ ही उस देश के लोग दो–चार होते हैं उन समस्याओं से जिनका उन्हें उपनिवेशन के दौर में सामना करना होता है। इसी प्रक्रिया में उस देश में पहले सांस्कृतिक स्तर पर जागरण होता है और उसके बाद यही प्रक्रिया सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर पर घटित होती है। तत्पश्चात, औपनिवेशिक व्यवस्था को पलट देने के लिए उक्त प्रक्रिया से उत्पन्न असंतोष विद्रोह का रूप धारण करता है। स्वतंत्र होने की हमारी प्रक्रिया का इतिहास भी उपर्युक्त तथ्य का अपवाद नहीं है। जहां तक प्रश्न आदिवासी अस्मिता का है तो वह भी उक्त प्रक्रिया से कोई बहुत अलग नहीं है। यह तो हम सभी जानते हैं कि वर्चस्ववादी ताकतों ने सारी दुनिया में 'सबाल्टर्न' इतिहास को बहुत अधिक तोड़ा–मरोड़ा है। उनकी मंशा भी इन 'सबाल्टर्न' समाजों का उपनिवेशन करने की ही रही है।

यदि आदिवासी कथा–साहित्य को गौर से देखा जाए तो यह सहज ही

विदित होता है कि अब तक वह अपने लिखित रूप में मूलतः कुछ ही कदम चल पाया है– यथा, 1. अस्मिताबोध, 2. अपनी समस्याओं की पहचान, 3. अपने असंतोष की प्रकृति की पहचान एवं 4. विद्रोह और उसका व्याप्तिकरण। ऐसा कहते हुए हम उसके मौखिक स्वरूप के विराट इतिहास से अपनी आँख नहीं बंद कर रहे हैं।

आदिवासी कथा–साहित्य के मूल्यांकन के क्रम में पहला चरण है– अस्मिताबोध। इस क्रम में जिस बिंदु पर सर्वप्रथम चर्चा करना उचित जान पड़ रहा है, वह है आदिवासी भाषा का परिप्रेक्ष्य। वर्चस्व की राजनीति करने वाला तथाकथित मुख्यधारा का समाज अपनी भाषायी साम्राज्यवादी नीति के साथ यहाँ भी अपना खेल खेलता है। इस संदर्भ में हमें यह नहीं भूलना चहिए कि तथाकथित शिष्ट समाज अपनी भाषा को थोपने का कोई मौका नहीं चूकता है। इसके पीछे उसकी औपनिवेशिक नीति ही काम करती है। वे प्रलोभन देते हैं कि यदि कामकाजी बनना है तो हमारी भाषा सीखो। यह तो हम सभी जानते हैं कि भारत में आदिवासी भाषाओं में शिक्षा देने की बहुत ही सीमित व्यवस्था है। संभवतः पश्चिम बंगाल एकमात्र ऐसा राज्य है, जहां आदिवासी भाषाओं में शिक्षण की व्यवस्था है। कहना न होगा कि जो आदिवासी बच्चे अध्ययन के लिए प्रयासरत होते हैं, उन्हें अंग्रेजी या हिंदी या किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा में पढ़ाई करनी पड़ती है। इस प्रक्रिया में उन्हें अपनी मातृभाषा से दूर कर दिया जाता है। यह एक प्रकार से उनकी भाषायी अस्मिता को नकारना ही है। यह एक महत्वपूर्ण कारण है जिसकी वजह से प्रत्येक वर्ष भारत में कई आदिवासी भाषाओं–बोलियों की असमय (हत्या) मृत्यु हो जाती है। इस स्थिति में कई आदिवासी समाज अपनी भाषायी पहचान से वंचित हो जाते हैं। इसके साथ ही वे वंचित हो जाते हैं अपने सौंदर्यबोध से, अपनी संस्कृति से और अपने सोचने–समझने के तौर–तरीके से, थोड़े में कहूं तो अपने पूरे–के–पूरे इतिहास से, अपनी विरासत से। कहना न होगा कि ऐसा होते ही उनकी सोच भी उपनिवेशित हो जाती है। इस प्रकार प्राचीन काल से चली आ रही एक लोक मनीषा का अंत हो जाता है। दूसरी तरफ एक प्रश्न यह भी है कि भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में कितनी आदिवासी भाषाओं को जगह मिली है। मुख्यधारा का यह रवैया अपने आप में ही काफी कुछ कहता है।

अस्मिताबोध के साथ ही आदिवासियों में सांस्कृतिक चेतना का संचार हुआ। वे यह समझ पाए कि मुख्यधारा का समाज अपनी संस्कृति को येन–केण–प्रकारेण उन पर थोपना चाहता है। इस क्रम में वे अपने आचार–व्यवहार एवं अपनी धार्मिक विरासत के प्रति जागरूक हुए। यह एक मानी हुई बात है कि

आदिवासी न तो हिंदू हैं और ना ही ईसाई। उनका धर्म है सरना। आदिवासी अस्मिता की पहचान के लिहाज से उसके इतिहास की सावधान पड़ताल आवश्यक है। समस्या यह है कि जो इतिहास उन्हें थमाया गया है, वह वर्चस्ववादी या औपनिवेशिक ताकतों के द्वारा बनाया गया है। यह इतिहास या तो विरूपित है या स्वार्थाधारित है। इसलिए आदिवासी अतीत को खंगालने के लिहाज से इतिहास के स्थान पर स्मृतियाँ अधिक प्रयोजनीय हैं। हम यह जानते हैं कि दक्षिण अमेरिका के काले लोगों का इतिहास साम्राज्यवादी ताकतों के द्वारा गायब कर दिया गया और उसकी पुनर्निमिति हेतु वहां के लोगों ने अपने मिथकों, किंवदंतियों, लोकगीतों एवं लोककथाओं का आश्रय लिया। भारत के आदिवासियों के संदर्भ में कहानी कुछ अलग नहीं है।

आदिवासी अस्मिता का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है– उनके जल, जंगल और जमीन। यह उनके जीवन का वह अंश है, जिसके बिना आदिवासी अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। आखिर प्रकृति की यही तो वह सत्ता है, जिसने उन्हें तब संभाला जब उन्हें मुख्यधारा के तथाकथित सभ्य लोगों ने उनके (आदिवासियों) ही द्वारा निर्मित संसाधनों पर कब्जा कर उन्हें आबादियों से दूर ठेल दिया। चिरकाल से जंगल और आदिवासियों के बीच परस्पर सहयोग एवं सह–अस्तित्व का संबंध रहा है। आदिवासी समाज मुख्यधारा के समाज की तरह संचयन एवं दोहन की विचारधारा में विश्वास नहीं करता है। वह इस मामले में सभ्यता के आदिम समाज की लोक एवं प्रकृति के प्रति व्यक्त उस आस्था का विश्वासी है कि जितनी आवश्यकता हो, उतना ही ग्रहण किया जाए। यह प्रकृति के प्रति उसके दोस्ताना रवैये का उत्तम उदाहरण है। इसके साथ ही वह प्रकृति के संरक्षण का एक निमित्त भी ठहरता है। कहना न होगा कि प्रकृति उसकी माँ, उसकी आराध्या भी रही है। आज विकास की राजनीति के नाम पर आदिवासियों को उनके जंगलों से भी खदेड़ दिया गया है। जंगलों पर वन विभाग का कब्जा हो गया है। यह बड़ा ही विचित्र–सा संयोग है कि संसार के उन हिस्सों में जहाँ आदिवासियों की बस्तियाँ या उनके आवास–उनके जंगल रहे हैं, वहीं प्राकृतिक संसाधनों जैसे वनोपज एवं खनिज पदार्थों की जमकर लूट–पाट हुई है। ऐसा लगता है कि अपनी जमीन के प्राकृतिक संसाधनों को लूट लेने के बाद इन तथाकथित विकास की पक्षधर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपनी धन–पिपासा को और बढ़ाने के लिए जंगलों की ओर अपना रुख किया। कहना न होगा कि यदि आदिवासी स्वार्थी होते तो जंगलों में इतने समय तक ये प्राकृतिक संसाधन इस प्रकार सुरक्षित–संरक्षित न बने

रहते। पूंजी और पूंजीवाद के वैश्वीकरण के दौर में यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तथ्यों के अपने राजनीतिक एवं आर्थिक निहितार्थ हैं। वनोपजों विशेषतः लकड़ी एवं खनिज पदार्थों का दोहन तो हुआ परंतु इन क्षेत्रों में न तो आदिवासियों को नौकरियाँ मिलीं और ना ही इन स्थानों पर कोई वैकल्पिक उत्पादन की व्यवस्था हुई। यदि कुछ हुआ तो बस इतना ही कि लूट के बाद इन क्षेत्रों का परित्याग कर दिया गया। मसलन झारखंड के ढेरों ऐसे क्षेत्र हैं जिन्हें कोयला खनन के बाद जहरीले धुंए एवं जमीन के नीचे लगी आग के हवाले कर दिया गया। यहाँ रहने वाले आदिवासियों को मरने के लिए उनके हाल पर छोड़ दिया गया उन्हीं रासायनिक पदार्थों के साथ जो प्रकृति, पर्यावरण एवं समस्त जीव–जगत के लिए विनाशकारी हैं। उनकी भूमि के अधिग्रहण के बदले में किए गए वायदे फिर चाहे वे भूमि की कीमत देने से जुड़े हों या फिर वहाँ खुल रही सरकारी या गैर–सरकारी संस्थाओं में नौकरी देने से संबंधित हों, कभी पूरे नहीं किए गए। उनके पुनर्वास की कोई व्यवस्था नहीं हुई। कहना न होगा कि इन हिस्सों में कभी भी पूर्ण उत्पादन या निर्माण के रचनात्मक पक्ष पर विचार ही नहीं हुआ। यह कल्याणकारी पूंजीवाद का दौर नहीं है बल्कि यह तो बेशर्म पूंजी का दौर है जहां राष्ट्र या राज्य और उसकी सेना, प्रशासन सब इसी तरह की पूंजी के संरक्षक हैं। पूंजीवाद का चेहरा हर रोज बदल रहा है। ऐसे में उसकी पहचान कर उसके षड़यंत्रों को बेनकाब करना बड़ा कठिन है। आदिवासी समाज के भोले–भाले लोगों के लिए तो पूंजीवाद के इस चरित्र को समझना और भी कठिन है। इस आवारा वैश्विक पूंजी ने जल, जंगल और जमीन जैसी कुदरती चीजों से भी आदिवासियों को महरूम कर दिया। एडवर्ड सईद ने कभी इम्रे सैल्यूजिन्स्की के साथ एक साक्षात्कार के दौरान पश्चिमी उपनिवेशवाद के विरोध में कहा था– ''मेरी पीढ़ी के पास विस्थापनों एवं निर्वासनों की एक श्रृंखला है जिसकी क्षतिपूर्ति असंभव है। संस्कृतियों के बीच जीने का अनुभव मेरे लिए एक बहुत, बहुत गंभीर चिंता का विषय रहा है।'' यह स्थिति आदिवासियों पर भी उतनी ही लागू होती है। आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासों में उपर्युक्त बिंदुओं को बखूबी उठाया गया है।

आदिवासी उपन्यासों पर बात करते हुए उनके समाजशास्त्र पर जब हम रोशनी डालते हैं तब यह पाया जाता है कि अस्मिताबोध के बाद आदिवासी अब अपनी समस्याओं से भी परिचित हो पा रहे हैं। यह बहुत जरूरी भी है क्योंकि जागृति के बाद समस्याओं की पहचान बहुत ही जरूरी है। आदिवासी जीवन की समस्याओं के कई चेहरे हैं; यथा भूमि अधिग्रहण के बाद विस्थापन की समस्या, कृषि

भूमि के छिन जाने की समस्या, वनों पर उनके अधिकार के छिन जाने की समस्या, जीविकोपार्जन की समस्या, श्रम के उचित पारिश्रमिक न मिलने की समस्या, बुनियादी जरूरतों के पूरा न होने की समस्या, महाजनी शोषण की समस्या, बंधुआ मजदूरी की समस्या, सरकारी नीतियों का लाभ समुचित रूप में न पा सकने की समस्या, भाषायी समस्या, सामाजिक एवं राजकीय उपेक्षा की समस्या, दिकू समाज के अबांछित हस्तक्षेप की समस्या, पारिवारिक समस्याएं, बहुराष्ट्रीय प्रतिष्ठानों की घुसपैठ की समस्या, सांस्कृतिक–धार्मिक क्षेत्र की समस्याएं, परिवर्तित मूल्यबोध की समस्याएं, आदिवासी शिक्षण से जुड़ी हुई समस्याएं इत्यादि–इत्यादि। आदिवासी जीवन की समस्याओं का सही तरीके से अभी तक चूंकि कोई हल नहीं निकला है, सरकारी नीतियों के ईमानदार निर्वहन का अभी तक अभाव है तो आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासों का कलेवर भी अब तक समस्यामूलक ही है।

आदिवासी समाज जब अपनी समस्याओं को पहचानने लगा, तब उसके भीतर अपनी समस्याओं की वजहों के प्रति असंतोष का पैदा होना लाजिमी था। उनके असंतोष की प्रकृति भी उनके स्वभाव की ही तरह व्यक्तिपरक नहीं बल्कि लोक–सापेक्ष है। वह मात्र उनके समाज के ही हित में नहीं है बल्कि सामाजिक, जातीय एवं अंतर्राष्ट्रीय कल्याण–विधायी भी है क्योंकि पर्यावरण संरक्षण आज सकल मानव समुदाय हेतु प्रयोजनीय है। हम सभी इसके दुष्परिणाम से भली–भांति परिचित हैं। कहना न होगा कि आदिवासी सह–अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यदि उनके असंतोष को राष्ट्रवाद की विचारधारा से जोड़ कर देखा जाए तो यह साफ–साफ देखा जा सकता है कि राष्ट्रवाद किसी स्थान, जनसमूह, किसी विरासत से जुड़े होने की घोषणा करता है। इसके आधार पर ही भाषा, संस्कृति और परंपरा द्वारा निर्मित किसी घर की परिकल्पना तैयार होती है। इस तरह यह निर्वासन की संभावना को अपने रास्ते से हटाता है। इसके साथ ही यह निर्वासन से व्युत्पन्न क्षति से संरक्षण का काम भी करता है। जबकि विस्थापन उस टूटन को व्यक्त करता है जो किसी मानव एवं उसकी जन्मभूमि, उसके अपने स्व एवं उस स्व के मूल आश्रय के बीच घटित होता है। यह कभी न भर पाने वाला घाव दे जाता है। एक ऐसा घाव जो मनुष्य के अन्तर्मन तक को भेद देता है। उपर्युक्त विचारों की रोशनी में देखने पर यह प्रश्न उठना लाजिमी ही है कि क्या आदिवासियों के लिए भी किसी राष्ट्र या राष्ट्रीयता की अवधारणा का कोई अर्थ है। उन्हें तो कभी यह अहसास ही नहीं होने दिया जाता कि वे भी किसी देश के नागरिक हैं। मसलन भारत में ही बंजारे आदिवासी लोगों की नागरिकता का कोई अर्थ नहीं है। इस तरह

क्षेत्रीयता, राष्ट्रीयता या अंतर्राष्ट्रीयता के प्रचलित प्रतिमान आदिवासी समाजों पर व्यर्थ ठहरते हैं। दूसरी ओर कई बार जंगल ही दो देशों की सीमाओं के बीच होते हैं, जहां सीमांकन हुआ ही नहीं होता है क्योंकि यह वन्य जीवन की स्वाभाविकता के लिए अनुचित माना जाता है। ऐसे में भी दोनों देश उन जंगलों में रह रहे आदिवासियों के प्रति अपना दायित्व न मानकर उसे (दायित्व को) एक–दूसरे के माथे मढ़ते रहते हैं। क्या आदिवासी ऐसे में 'नो मैन्स लैंड' के अधिवासी नहीं ठहरते? फिर उनके मूल निवासी होने का अर्थ क्या है? ऐसे में यह कहना सही ही लगता है कि विस्थापन अस्तित्व की ऐसी अवस्था है जिसमें लोग अपनी जड़ों से, जमीन से, अपने अतीत से कट जाते हैं। प्रायः उनका न तो कोई राज्य होता है और ना ही उनकी सुरक्षा हेतु कोई सेना होती है। वे अपनी पहचान इनके माध्यम से खोजते रहते हैं। चूंकि ये चीजें विजयी या वर्चस्ववादी विचारधारा का अंग होती हैं, अतः ये अपने हित के लिए आदिवासियों या मातहतों के खंडित इतिहास को व्यक्त करती हैं। बावजूद इसके आदिवासी असंतोष का चरित्र अराजक न होकर प्रतिरक्षात्मक होता है।

आदिवासी असंतोष का विस्फोट विद्रोह के रूप में होता है। इतिहास साक्षी रहा है कि यह विस्फोट कभी हूल तो कभी उलगुलान तो कभी धानकटिया आंदोलन के रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत हुआ है। यह एक अलग बात है कि इतिहास के पन्नों से उसकी भूमिका को गायब कर दिया गया। एक बात तो तय है कि कोई भी आंदोलन तभी महत्वपूर्ण हो पाता है, जब अपनी सांस्कृतिक भूमिका के बाद वह अपनी राजनीतिक भूमिका को भी सही तरह से निभा पाए। इस क्रम में यह कहना अनुचित न होगा कि आदिवासी आंदोलन को छिन्न–भिन्न करने के कई प्रयास भी हुए। इसके बावजूद वह अपनी जगह बनाने में कामयाब रहा।

उपन्यास विश्व साहित्य को पश्चिमी बुर्जूआ सभ्यता की देन है। इसीलिए इसे बुर्जुआ महाकाव्य भी कहा गया है। इसमें 18वीं–19वीं सदी के बुर्जुआ साम्राज्यवादी विस्तार की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। पश्चिमी बुर्जुआ समाज की साहित्यिक कृतियाँ और उसका साम्राज्यवादी विस्तार एक–दूसरे के पूरक रहे हैं। कालांतर में उपनिवेशित देशों ने उपन्यास को उपनिवेशवाद से लड़ने के लिए शस्त्र की तरह प्रयोग करना प्रारंभ किया। कहना न होगा कि जहर ने जहर को काटना शुरू किया। उपन्यास, जो आधुनिक जीवन का महाकाव्य है, उसमें कोई वैकल्पिक संसार नहीं होता है बल्कि वह तो इसी संसार की सच्चाइयों का भाष्य होता है। आज उपन्यास वह प्लेटफार्म है जो हाशिये के समाजों के लिए जगह बना रहा है।

वास्तविकता यह है कि आदिवासी जीवन की सच्चाइयों को संपूर्णता में व्यक्त करने के लिए आज उपन्यास की प्रयोजनीयता असंदिग्ध है। कविता या कहानी का चौखटा अभी भी आदिवासी जीवन के सच को उतनी बड़ी जगह देने में सक्षम नहीं है जिसका वह अधिकारी है। ऐसा कहते हुए भी आदिवासी जीवन की सच्चाइयों को व्यक्त करने के लिहाज से उक्त दोनों विधाओं की महत्ता से आँख नहीं मूंदी जा सकती है। इसके अलावा आदिवासी जीवन का समावेशी चरित्र उस पर केंद्रित उपन्यासों के समाजशास्त्र के साथ–साथ उसके सौंदर्यशास्त्र की भी मांग करता है। यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिस पर पर्याप्त कार्य किए जाने की अभी भी आवश्यकता बनी हुई है।

सौंदर्य की सार्थकता ही उसके कल्याणकारी होने में है या सौंदर्य की निर्मिति का कारक ही उसका कल्याणकारी होना है। आदिवासी अस्तित्व ही प्रकृति या पर्यावरण हेतु कल्याण की अवधारणा के साथ निर्मित है। कहना न होगा कि उसकी सौंदर्य–दृष्टि का आधार वह लोक ही है जिससे वह संबंधित है। इसलिए उसके सौंदर्यशास्त्र का चरित्र वैयक्तिक तो कभी हो ही नहीं सकता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सौंदर्य को देखने का यह तरीका समूह–धर्म का आग्रही है। यही वह बिंदु है जहाँ वह मार्क्सवादी सौंदर्य–दृष्टि के करीब का ठहरता है। बहरहाल वह इस उत्तर आधुनिकतावाद के दौर में भी लोकाधारित या लोक–सापेक्ष बहस का हिमायती है। इस अर्थ में वह उत्तर आधुनिकतावाद की अतिवादिता से दूर ही है। उसने उसे हाशिए की आवाज के लिए एक मंच से अधिक और कुछ नहीं समझा है। संभवतः उपन्यास के यथार्थवादी चेहरे एवं समकालीन निर्मित हो रहे जटिल इतिहास या 'लिजेण्ड' को समझने के लिहाज से उसके महत्व से नजरें हटाई नहीं जा सकती हैं। इसलिए आदिवासी जीवन को व्यक्त करने वाले उपन्यासों के समाजशास्त्र को समझने में जहाँ उपर्युक्त चार चरणों का अपना ही महत्व है, वहीं उनके विषयगत विभाजन में भी ये चारों चरण बहुत ही उपयोगी हैं। इसके अलावा आदिवासी कृतियों के सौंदर्यशास्त्र की निर्मिति हेतु जहाँ उनमें प्रयुक्त भाषिक प्रयोग प्रयोजनीय हैं, वहीं उनकी लोक–पक्षीय दृष्टि भी वांछित है।

सर्वशेष में आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासों से यह उम्मीद करना उचित जान पड़ता है कि जिस प्रकार आदिवासी जीवन लोकतांत्रिक, समावेशी एवं सामासिक प्रकृति का है, उसी प्रकार उसका भाष्य उपन्यास भी साहित्य की अन्य विधाओं एवं कला–रूपों का स्वयं में समावेशीकरण कर अन्य विधाओं एवं कलाओं का न सिर्फ जनतंत्र रचे बल्कि उस लोकतांत्रिकता की रक्षा भी करे, जो पहचान है

आदिवासी समाजों की। आदिवासी जीवन अपनी प्रकृति में समावेशी तथा रूढ़ि–विरोधी है, इसलिए वह अपने में अन्य सभी साथी विमर्शों यथा स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, पर्यावरण विमर्श इत्यादि–इत्यादि के लिए भी जगह बनाए रखे क्योंकि अन्य विमर्शों की रूढ़ता के लिए आदिवासी विमर्श में कोई स्थान नहीं है, बल्कि यह तो उनके सह–अस्तित्व का पक्षधर है। कहना न होगा कि व्यवस्था–परिवर्तन के लिए सम्मिलित सहकारी प्रयासों की अपेक्षा सदा रही है। यदि सारे विमर्शों की सकारात्मकता का आदिवासी विमर्श एवं उससे संबंधित उपन्यास स्वयं में समाहार कर सकें तो बदलाव के लिए मजबूत जमीन तैयार करना सहज हो जाएगा। इस कार्य में आदिवासी समाजों को अपनी न्यूनताओं को भूलकर एक–दूसरे का हाथ थामना होगा और अपनी लेखनी की धार को और अधिक पैना करना होगा। दूसरी तरफ हिंदी में आदिवासी रचनाधर्मिता की सही समझ एवं उसके पल्लवन हेतु आदिवासी रचनाओं का शास्त्र भी गढ़ना होगा। यह संभव भी आदिवासी समाजों के द्वारा ही होगा। हालांकि अभी इस दिशा में हिंदी में 'पैटर्न मेकिंग' का काम सही तरीके से न होने के कारण यह कार्य थोड़ा कठिन तो है परंतु यदि यह कार्य निष्ठा से किया जाए तो आदिवासी समाज एवं साहित्य के साथ हिंदी समाज एव साहित्य का भी भला होगा।

डॉ. सुनील कुमार द्विवेदी,
सहायक प्राध्यापक,
हिंदी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय,
राजा राममोहनपुर, डाकघर–एन.बी.यू.,
शिव मंदिर, सिलीगुड़ी,
जिला–दार्जिलिंग, प. बंगाल–734013

आंचलिक उपन्यासों में चित्रित आदिवासी स्त्री

डॉ. बोंद्यालु बानोतु

हर साल मार्च 8 को महिला दिवस धूम–धाम से मनाया जाता है। महिलाओं की प्रगति के बारे में कई लोग बड़े–बड़े भाषण देते हैं। लेकिन वर्तमान में, हम आज़ादी मिले 60 साल पार कर चुके हैं। क्या महिलाओं का एमानसिपेशन हुआ? (Is there Women's Emancipation in the Democratic India?)। मुझे नहीं लगता कि महिलाओं को आज़ादी मिली है। अरुंधति राय ने अपना उपन्यास 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' में स्पष्ट कर दिया कि मुख्यधारा के समाज की महिलाओं की स्थिति कैसी है। इससे पता चलता है कि इस देश में जनतान्त्रिक व्यवस्था किस स्थिति में है? पित्रसत्तात्मक समाज कितना मज़बूत है?

फिर भी भारतीय आंचलिक आदिवासी महिलाओं से तुलना करने पर, आदिवासी महिलाओं की स्थिति बेहतर है। मैं इस शोध पत्र के लिए चार उपन्यास, जैसे 'जंगल के फूल', 'कगार की आग', 'ग्लोबल गांव के देवता', 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' और संबंधित किताबें लिया हूं। लेकिन इस शोध पत्र के केन्द्र में 'जंगल के फूल' उपन्यास है। उस पर ही ज़्यादा बल दिया गया है। क्योंकि उस उपन्यास में बस्तर के गोण्ड आदिवासियों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक तत्वों को समग्र रूप से चित्रित किया है, लेखक राजेन्द्र अवस्थी ने। 'ग्लोबल गांव के देवता' एक विशेष आंचलिक एवं आदिम असुर जनजाति पर लिखा गया है। इसमे उस विशेष आदिम असुर जनजाति के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और संस्कृति को दर्शाया है, लेखक रणेन्द्र ने। 'कगार की आग' उपन्यास में, सामंति व्यवस्था में एक नेक मर्द और स्त्री की हालत क्या हो सकती है, इसमें दर्शाया है। वैसे ही 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' किताब में अरुन्धति राय ने मुख्यधारा समाज की स्त्री की स्थिति को दर्शाया है।

राजेन्द्र अवस्थी ने सारिका के अक्टूबर 1961 अंक में एक परिचर्चा का आयोजन किया था, जिसका सार–संक्षेप उन्होंने अपनी संपादित पुस्तक सत्रह आंचलिक कहानियों की भूमिका में प्रस्तुत किया है। प्रो0 गोपाल हाल्दार, फणीश्वरनाथ 'रेणू', नंददुलारे वाजपेयी, राजेन्द्र यादव, शिवप्रसाद सिंह आदि

रचनाकारों ने आंचलिकता की परिभाषा दी हैं। मुझे इन सबमें रेणू की परिभाषा उचित लगती है जो 'मैला आंचल' की भूमिका में दी गयी है।

''यह है 'मैला आंचल' एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है....मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गांव को– पिछड़े गांव का प्रतीक मान कर इस उपन्यास–कथा का क्षेत्र बनाया है।''

(फणीश्वरनाथ रेणू के 'मैला आंचल' उपन्यास की भूमिका से)

''इसमें फूल भी हैं शूल भी, धूल भी है गुलाब भी, कीचड़ भी है चन्दन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी– मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।'' (मैला आंचल की भूमिका से 'रेणू')

'जंगल के फूल' में आंचलिक उपन्यासों के शिल्प–वैभव का पूरा–पूरा उपयोग किया गया है। लेखक ने बस्तर के गोण्ड आदिवासियों के रूप, रस, गंध, स्पर्शपूर्ण जीवन की विविध अनुभूतियों को ध्वनि–संकेतों, व्यंग्यात्मक उक्तियों, नाटकीय प्रसंगों, भावपूर्ण गीतों, मोहक दृश्यांकनों एवं प्रभावी वर्णनों द्वारा संपन्न किया है। मैं, इस आंचलिक उपन्यास में चित्रित 'आदिवासी स्त्री' पक्ष को लेकर बात करना चाह रहा हूं।

आदिवासियों में सब से विशेष और प्रजातान्त्रिक परम्परा है 'घोटुल' संस्कृति। आदिवासी दूर–दराज जंगलों में निवास करते हैं। वे अपने छोटे–छोटे गांव बसाते हैं। हर गांव का एक 'घोटुल' होता है। 'घोटुल' का दीवार बच्छी मिट्टी से बनाते हैं। यह एक बड़ा छप्पर है या एक छप्पर के सहारे कई बनाते हैं। इसको देख–भाल करने हेतु, एक नायक रहता है। उसे 'सिरदार' या 'गायता' कहते हैं। उस गांव के युवा 'लड़की और लड़के' सभी रात के समय, अपने अपने गीकी (बिछावा या बिस्तर) लेकर 'घोटुल' में प्रवेश करते हैं। यहां जो सबसे पहले पहुंचता वह अपने तुरन्त बाद में आने वालों का स्वागत करता है। वैसे ही दूसरा तीसरे का स्वागत करता है...ऐसा आखिरी लड़का–लड़की आने तक चलता रहता है। घोटुल को छोड़ कर पूरा गांव गहरी नींद में रहता हैं। लेकिन 'घोटुल' में युवा लड़की–लड़के खुल कर एक दूसरे से बात–चीत करते हैं। अपना दुःख–दर्द आपस में बांट लेते हैं। एक दूसरे को पसन्द भी करते हैं। एक दूसरे से खुलकर प्यार भी करते हैं। यहां आदिवासी 'स्त्री' पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। वह अपने मन–मरजी से प्यार कर सकती और शादी भी कर लेती है। अर्ताथ यहां स्त्री स्वतन्त्र है।

'धीरे–धीरे सब 'घोटुल' में पहुंच जाते हैं। 'घोटुल' को छोड़कर सारा गांव

नींद में सोता है। गांव की हर झोंपड़ी में पति–पत्नि होते हैं या तीन–चार बरस से कम उम्र के लड़के–लड़कियां। बाकी सब घोटुल में आकर अपनी जगह में गीकी बिछा देते हैं। यह उनका बिछौना है। घोटुल का हर सदस्य गीकी से बंधा है। गांव की हर गीकी घोटुल से बंधी है।'' (पृ. 24, जंगल के फूल)

लेखक राजेन्द्र अवस्थी ने आदिवासियों में मौजूद 'स्त्री' स्वतन्त्रता के साथ–साथ, उनके समस्याओं को भी चित्रित किया है। आदिवासियों में शादी के बाद संतान नहीं हुआ या एक ही संतान हो कर यदि रुक गया तो, दूसरी शादी करने को तैयार रहते हैं। यह अपनी पत्नी को स्वीकार नहीं होता। क्योंकि 'घोटुल' संस्कृति में प्यार कर के जो भी शादी करेगा वे बिछुड़ना नहीं चाहते हैं। क्योंकि यहां की यादें तड़पाती हैं। तो 'जंगल के फूल' उपन्यास में 'मूंदरी' का पति सत्ताय दूसरी शादी करना चाहता है क्योंकि 'मूंदरी' का एक ही संतान हो कर किसी कारण वश बंध हो जाता है। लेकिन 'मूंदरी' का पति सत्ताय अधिक संतान चाहता है। इस संदर्भ में 'मूंदरी' दुःखित हो कर कहती है कि– ''औरत की जात, वह तो कच्ची माटी की हाँडी है। जिसे जो निशान उसपर बनाना हो, बना दे। जब कोई हाँडी अकड़ती है तो कुम्हार उसे चाक में कसकर भरपूर तड़पाता है। मूंदरी जानती थी कि दुनिया में कोई भी औरत बिना मर्द के नहीं रह सकती। मर्द उसका सहारा है। वैसा ही जैसे ओल के लिए झाड़ होता है। मरद शीशम का पेड़ है और औरत उसकी अमर बेल। बिना झाड़ का सहारा पाएं वह जी नहीं सकती। इसलिए जब 'मूंदरी' सत्ताय के बारे में सोचती, तो उसके मन में हमदर्दी के भाव जाग उठते।'' (पृ 35, जंगल के फूल)

लेखक राजेन्द्र अवस्थी ने आदिवासियों में प्रचलित सहजीवन या बंधन या लिविंग टुगेदर वाली, वर्तमान की आधुनिक संस्कृति का भी अंकन किया। 'जंगल के फूल' उपन्यास में नायक सुलकसाए और नाइका महुआ है। ये दोनों एक दूसरे से बेहद प्यार करते हैं। बल्कि सुलकसाए इस प्यार के बंधन को शादी करके नष्ट नहीं करना चाहते हैं। महुआ भी इस बात से सहमत है। महुआ और सुलकसाए एक दूसरे से खुश हैं। लेकिन महुआ दास बंधन नहीं चाहती है। तब आदमी दास बनकर बिक जाता है। महुआ कहती है कि परवशता बुरी है। वह आदमी को जैसा भी मिलें, जैसे शादी करने से या अपने देश पर पराय शासन करने से।

''उसके साथी महुआ की बात करते हैं। वह कहता है 'हां महुआ से प्यार करता हूं, करता रहूंगा, ब्याह नहीं करूंगा।' उसकी बात सुनकर सब हंस देते हैं।

वह इस हसीं की टीस चुपचाप पी जाता है। महुआ भी शायद उसका साथ देने को तैयार है। कहती है, 'बिहाव से क्या! हम जब एक हैं तो बिहाव करने से ही क्या मिलेगा!' वह सुलकसाए जैसा साथी पाकर खुश है। सुलकसाए उसे पाकर खुश है। इस खुशी को बिहाव के बंधन में बांधकर क्यों नष्ट कर दिया जाए! बंधन, चाहे जैसा हो, आखिर आदमी को बांध लेता है। तब आदमी दास बन जाता है, बिक जाता है। परवशता बुरी है– चाहे वह आदमी को ब्याह करने से मिलें या अपने देश पर पराए शासक के अधिकार कर लेने से।'' (पृ. 37, जंगल के फूल)

लेखक राजेन्द्र अवस्थी ने 'जंगल के फूल' उपन्यास में स्त्री और पुरुष के बीच भेद–भाव के कारणों को अच्छी तरह समझाया है। कहता है कि इस 'लिंगो की दुनिया में औरत–मरद का भेद नहीं रे झालर!'। अर्थात भगवान या प्रकृति की बनाई हुई इस दुनिया में औरत–मरद के बीच कोई भेद–भाव नहीं है। ये जो भेद–भाव है, सब तुम पुरुषों ने बनाया है। अर्थात पित्रृ सत्तात्मक समाज ने बनाया है। परिणाम स्वरूप औरत को बंदर की तरह नचाते रहे हैं। जब औरत अपनी बात करती तो, कहते हैं कि कानून में लिखा है कि औरत बात नहीं कर सकती। लेकिन कानून भी तो पुरुषों के द्वारा ही लिखा गया है न?

'तो यह कहो कि तुम मर्दों ने उसके मन को दिमाग की तरह खा डाला है। लिंगो की दुनिया में औरत–मरद का भेद नहीं रे, झालर! भेद–भाव की ये दिवारें तुम्हारी बनाई हैं। तुम हाथ में डुगडुगी लेकर बन्दर की तरह औरतों को नचाते हो और जब औरत अपना ढोल पीटना चाहती है तो तुम ढोल की दरांत ढीली कर देते हो और कहते हो– कानून में लिखा है कि तुम ढोल नहीं पीट सकती।' (पृ. 174, जंगल के फूल)

'कगार की आग' हिमांशु जोशी के द्वारा लिखा गया एक सशक्त आंचलिक उपन्यास है। इसमें अल्मोड़ा के पर्वतीय अंचल में लद्योन गांव की व्यथा–कथा चित्रित की गयी है। इस उपन्यास में उस गांव के अमानवीय सामन्ती व्यवस्था का स्वरूप को दर्शाता है। सामंतों ने एक नेक एवं गरीब परिवार को किस तरह दबाते, लूटते, शोषण करते है, आदि समस्याओं को चित्रित किया गया है। यहां गोमती का पति का हत्या कर देते हैं सामंतियों ने। परिणाम गोमती एक स्त्री होती हुई भी, उस अमानवीय सामंति व्यवस्था का प्रतिरोध करती है। कहती है कि– ''कालिया कसाई, जिस तरह तूने मेरे कुनुवाँ के बाप को जलाया, उसी तरह तुझे भी जिन्दा ही आग में भून–भूनकर न जलाया तो मैं भी... मैं भी... मैं भी औरत जात नहीं!'' (98, कगार की

आग)

संदर्भः

1. जंगल के फूलः राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित', राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
2. कगार की आगः हिमांशु जोशी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
3. ग्लोबल गांव के देवता 'रणेन्द्र'
4. मैला आंचल 'रेणु'
5. गॉड ऑफ स्माल थिंग्स 'अरुन्दति राय'
6. आधा गांव 'राही मासूम रजा'
7. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, सं, डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. ज्ञानचन्द्र गुप्त
8 आधुनिक परिदृश्यः आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, विद्या सिन्हा– वाणी प्रकाशन
9. आदिवासियों के घोटुल– डॉ. नारायण चौरे

पोस्ट डॉक्टोरल फेलो
हिन्दी विभाग,
मानवि की संकाय,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
गच्छी बौली, तेलंगाना स्टेट,
मोः 9885752706,
E-Mail: bondyalu7banoth@gmail.com

समकालीन हिंदी उपन्यास और आदिवासी जीवनसंघर्ष

ओंकार मल दुधवाल

समकालीनता का संबंध समसामयिकता से हैं वही रचना समकालीन कही जाएगी, जो अपने समय के समाज की विभिन्न परिस्थितियों को व्यक्त करे। परिवर्तनशील सामाजिक यथार्थ को अपने रचनाकर्म के माध्यम से व्यक्त करने वाला रचनाकार ही समकालीन कहा जाता है। समकालीन रचनाकार स्वयं को समसामयिक वस्तुस्थिति की स्वीकृति तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह सामाजिक विषमताओं की आलोचनात्मक दृष्टि से जाँच–पड़ताल करके सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने का भी प्रयास करता है। ऐसा ही प्रयास हिंदी साहित्य के समकालीन कथा साहित्य में हम आदिवासी विमर्श में देख सकते हैं जनजातियाँ विश्व के लगभग सभी भागों में पायी जाती हैं। भारत अफ्रीका के बाद सर्वाधिक जनजातियोंवालादेशहैं। भारत में भील, भारव, कोल, किरात, गरासिया, सहरिया, डामोर, गोंड, संथाल, मीणा, मुंडा आदि जनजातियाँ विभिन्न राज्यों के जंगली एवं पहाड़ी क्षेत्रों में अपना जीवन यापन करते हैं।

आजादी के बाद देश के राजनेताओं एवं उच्चवर्ग के लोगों ने पश्चिमीकरण एवं आधुनिकता का चोला पहनकर राष्ट्र में विभिन्न विकास योजनाओं का निर्माण करके उनकों आदिवासियों के मूलनिवास स्थान पहाड़ी एवं जंगली क्षेत्रों में क्रियान्वित किया गया। यहाँ से शुरू होती है आदिवासियों की विस्थापन की कहानी। यह विस्थापन प्राकृतिक विस्थापन से भी अधिक खतरनाक साबित हुआ क्योंकि प्राकृतिक आपदा के बाद उस स्थान पर वापिस से विकास किया जा सकता हैं, लेकिन इस विस्थापन ने हमेशा–हमेशा के लिय विस्थापित कर दिया हैं।

विकास के नाम पर आदिवासियों को उनकी परंपरा, संस्कृति, मूलनिवास स्थान से खदेड़ कर उनको समाज के हाशिए पर डाल दिया जाता हैं। विस्थापन की समस्या के साथ–साथ आदिवासियों की परम्परा, संस्कृति, भाषा, वेशभूषा, राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका योगदान आदि विशेषताओं को समकालीन हिंदी के

गैरआदिवासी एवं आदिवासी रचनाकारों ने अपने कथासाहित्य के लिय प्रमुख विषयवस्तु के रूप में चित्रित करके समाज के मुख्यधारा में आदिवासियों की अस्मिता को स्थापित करने का प्रयास किया हैं।

सबसे पहले हिन्दी साहित्य में आदिवासियों की समस्याओं को देवेंद्र सत्यार्थी ने 'रथ के पहिए' उपन्यास में चित्रित किया हैं। यह उपन्यास आदिवासी समाज एवं उनकी विस्थापन की समस्या को समाज के सामने रखता है। इसके बाद 1954 में आंचलिक उपन्यास के रूप में प्रकाशित होने वाला फणीशवरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' से हिंदी में एक नई उपन्यास पम्परा की शरुआत होती हैं। 'मैला आँचल' वैसे तो आंचलिक उपन्यास के रूप में प्रसिद्ध है लेकिन इसमें संथाल आदिवासी समाज की समस्याओं को चित्रित किया गया हैं। संथालो को अपने जमीनी हक से बेदखल कर दिया जाता हैं। संथाल अपने अस्तित्व के लिए लड़ते–भिड़ते हैं तो जुल्म के शिकार होते हैं। रेणु पीडतों के साथ हैं आजादी के बाद हमारा कथा–साहित्य तब अधिकतर शहरी मध्यवर्ग पर केन्द्रित था, वह व्यक्ति के अकेलेपन, सम्बन्धों में टूटन और महानगरीय संत्रास आदि में उलझा था। लेकिन इसी समय हिंदी के कई कथाकारों ने समाज के हाशिए पर जीवन यापन करने वाले आदिवासियों के सामाजिक संरचान को अपने लेखन के लिए प्रमुख विषयवस्तु के रूप में लेकर आदिवासियों की समस्याओं की तरफ समाज का ध्यान खींचा। रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' (1958) उपन्यास में राजस्थान के ब्रज प्रदेश की सीमा पर स्थित बैर क्षेत्र के नट आदिवासियों के सामजिक–सांस्कृतिक परिवेश को यथार्थ के साथ चित्रित किया है। रांगेय राघव का 'धरती मेरा घर' उपन्यास में गाडिया लुहारों के खानोबदेश जीवन को चित्रित करता है। राजेंद्र अवस्थी के 'जंगल के फूल' (1960) 'सूरज किरण की छाँव' इस समय के महत्वपूर्ण उपन्यास हैं।

बीसवीं सदी के नवम दशक में आदिवासी जीवन पर लिखे गए उपन्यासों का एक नया दौर शुरू होता है। यहाँ आकर कथाकार नई संवेदना, विचार–विमर्श के साथ आदिवासी समाज के जीवन को गहराई से छानबीन करता हुआ दिखाई देता है। इसकी शुरुआत मणि मधुकर का उपन्यास 'पिंजरे में पन्ना' से होती है। इसमें राजस्थान के रेगिस्थान क्षेत्र में यायावर जीवन जीनेवाले गाडिया लुहारों के सामाजिक, सांस्कृतिक, परिवेश का गहराई से जीवंत चित्रण किया है। हिमांशु जोशी की 'अँधेरा और' उपन्यास में थारू आदिवासियों के जीवन संघर्ष का नग्न यथार्थ देखने को मिलता है। इसमें आदिवासियों का पुलिस–जमींदारों द्वारा किया

जाने वाला शोषण चित्रित हुआ है। शोषण के केंद्र में नारी है। पुलिस–जमींदारो के खिलाफ संघर्ष करने वाला पात्र परसिया सशक्त, प्रतिरोधी, विद्रोही एवं जीवंत पात्र बनकर समाज के सामने आता है जो शोषित समाज के लिए एक प्रेणना बन जाता है। शिवप्रसाद सिंह के 'शैलूष' (1989) उपन्यास में मिर्जापुर–विंध्यांचल क्षेत्र में जीवनयापन करने वाली खानाबदोश आदिवासी नट जाति के सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश के साथ–साथ उनके जीवन संघर्ष का चित्रण किया गया है।

समकालीन हिंदी कथा साहित्य में 'संजीव' का नाम अग्रणीय पंक्ति में आता है। संजीव ने अपने साहित्य में किसी ग्रामीण, अंचल विशेष के आदिवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं उनके जीवन संघर्ष को उनकी ही ग्रामीण, देशज भाषा में चित्रित किया है, जो पाठको को झकझोर देती है। संजीव के उपन्यास 'पांव तले दूब'के केंद्र में झारखंड का पंचपहाड़ अंचल के आदिवासियों के अस्तितत्व, अस्मिता के इर्द–गिर्द विकसित और गुंफित हुई एक बेबाक कथा है। इस उपन्यास में औद्योगिकीकरण के कारण विस्थापन की समस्या है। उपन्यास का शीर्षक ही आदिवासियों की स्थिति को स्पष्ट कर देता है। शीर्षक यह संकेत करता है की पांव तले के दूब जिसे हम बिल्कुल सहजता और बिना किसी संकोच से कुचलते हुए चले जाते है और इस कुचलने का कोई अपराध भी नहीं होता है। संकट तब खड़ा होता है जब कभी यह दूब हमारे पांवो को चुभ जाती है और हमारे मुलायम चेहरे पर उभरे विचलन के साथ ही उसके होने का भी हमें अहसास हो जाता है। इसका प्रतीकार्थ अर्थ यह संकेत करता है कि देश में विभिन्न प्रकार की विकास योजनओं के द्वारा आदिवासियों को उनकी जन्मभूमि, कर्मभूमि से दरकिनार किया जाता है। तथाकथित समाज के लोगों को जरा भी अपराधबोध का अहसास नहीं होता है, लेकिन जब आदिवासी समाज के लोगों के धैर्य का सब्र टूट जाता है तब वह अपनी अस्मिता को बचाने के लिए उग्र रूप धारण करके सरकारी योजनाओं एवं सभ्य कहे जाने वाले समाज का विद्रोह करते है, सभ्य समाज के लोगों के मुलायम चेहरे पर दुब के नुकीली नोक की तरह चुबते हुए अहसास करते है। संजीव के उपन्यास 'धार' एवं 'सावधान नीचे आग है' में एक नई भूमि की तलाश है। 'सावधान नीचे आग है' में कोयला अंचल में मजदूरी करने वाले आदिवसियों का जीवनसंघर्ष यथार्थ के रूप में हमारे सामने आता है। इसमें पाठको के सामने एक साथ लेखक कई प्रश्न उपस्थित करता है और 'धार' में उन प्रश्नों का समाधान करता हुआ दिखाई देता है। वीरेंद्र जैन के 'पार' उपन्यास में विस्थापन की समस्या से संघर्ष करती हुई राउत जनजाति का जीवनसंघर्ष का चित्रण उपन्यासकार ने बखुबी से

किया है। मैत्रीयी पुष्पा ने 'अल्मा कबूतरी' 2000 में प्रकाशित उपन्यास में बुंदेलखंड की कबूतरा आदिवासियों के जीवन त्रासदी का चित्रण किया है। लेखिका ने आदिवासी समाज के अन्तर्विरोध, जीवनसंघर्ष और विस्थापन की गहरी समस्या को उठाया है। संघर्ष ही इनका प्राणतत्व बन गया है। वे हार को भी स्वीकार नहीं करते है। हरिराम मीणा ने राजस्थान के बांसवाडा अंचल में निवास करने वाली भील एवं मीणा जनजाति को केंद्र में रखकर 'धूणी तपे तीर' उपन्यास की रचना की है। इस उपन्यास में राष्ट्रीय आन्दोलन में आदिवासियों के योगदान को हमारे सामने रखता है। जिसको इससे पहले हम इतिहास की किताबों में मात्र दो पंक्तियों में पढ़ते आ रहे है। भारतीय समाज की यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि जो लोग समाज के हाशिय पर अपना जीवन यापन करते है उनके बहुत बड़े योगदान को समाज की नजरों से छुपाया जाता है। यह कार्य हमारे समाज के मात्र मुठ्ठी भर लोग अपने स्वार्थ के लिए करते है। अभी तक बांसवाडा अंचल में स्थित मानगढ पहाडी इस आदिवासी शहादत के कारण एक स्वतंत्रता–तीर्थ में बदल जानी चाहिए। भील–मीणों ने गोविन्द गुरु के नेतृत्व में पहले एक लम्बा शांतिपूर्ण अभियान चलाया था, लेकिन उनके इस अभियान को ठिकानेदारों ने बगावत के रूप में लिया और उसे कुचलने के लिए अंग्रेजो से मदद की गुहार की। गोविन्द गुरु और उनके साथियों ने अंग्रेजी व रियासती फौजों से बचने के लिए मानगढ पहाडी को शरण–स्थली बनाया था। घिर जाने पर ही उन्होंने हथियार उठाए थे और तीरों तथा पुरानी बंदूकों जैसे भोथरे हथियारों से अंत तक मुकाबला किया था। उन पर न सिर्फ धोखे से हमला किया गया था, बेरहमी से मशीनगनी मौत का कहर भी बरपाया गया था।

गोविन्द गुरु ने भीलों–मीणों के बीच कैसे जागृति फैलाई, कैसे उन्हें संगठित किया और कैसे उन बे–आवाजों को अपने हको के लिए बोलना सिखाया व बलिदान के लिए तैयार किया, यही इस उपन्यास की अन्तर्वस्तु है। गोविन्द गुरु आर्य समाज में दीक्षित धार्मिक व्यक्ति थे। उनकी धर्म–चेतना आत्म–लाभ वाली धर्म–चेतना नहीं थी। वह आर्य–समाज की आरम्भिक लोकवादी और सुधारवादी न्याय–चेतना से अनुप्रणित थी। यह चेतना ही उन्हें समाज–चिन्ता की ओर ले गई, ठीक मध्यकालीन भक्तों–संतों की परम्परा में। समय की माँग थी कि वे केवल साधक और गुरु बनकर ही रहें, अपने अनुयायियों में अन्याय के प्रतिरोध की भावना भी जगाएँ तथा उसके लिए संघर्ष में उनका नेतृत्व करें। लेखक का लक्ष्य निकट अतीत की इस अविस्मरणीय घटना को आख्यान के जरिये इस तरह प्रस्तुत करना

है कि उसकी सच्चाई असंदिग्ध बनी रहे। लेखक की इस बलिदान–कथा में दिलचस्पी स्वाभाविक है, वह स्वयं उस समाज का अंग है। लेकिन केवल जातिगत दिलचस्पी से ऐसी कथा नहीं लिखी जा सकती जो मानवीय मुक्ति–संग्राम की अटूट श्रंखला की कडी बन सके। उसके लिए जिस व्यापक स्वतंर्त्य–दृष्टि की अपेक्षा है, वह लेखक के पास है और उसके साथ है एक कवि की संवेदना। लेखक ने अपनी नायक के संन्यासी–व्यक्तित्व के अनुरूप साधु–गिरी वाली जबान का कुशल विनियोग किया है। जिस सामाजिक परिवेश में गोविन्द गुरु जीये, वह धर्म–शासित था, ऐसे समाज में कोई धार्मिक व्यक्ति ही सामाजिक नेतृत्व दे सकता था, मध्यकाल के इतिहास से इस बात को हम समझ ही सकते हैं। लेखक ने धर्म गुरु गोविन्द जी की इस मानवीय भूमिका को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है। गोविन्द गुरु स्वयं भील–मीणा समुदाय के नहीं थे, उस समुदाय से कुछ बेहतर स्थिति के घुमन्तू व्यापारी बंजारा वर्ग से आए थे। पहले उन्होंने अपने को जाति–मुक्त (डी–क्लास) किया और भील–मीणों से स्वयं को एकमेक कर लिया। तदांतर उन्हें अंधविश्वासों, रूढियों, कुप्रथाओं और नशाखोरी से छुटकारा दिलाने का प्रयास किया तभी वह उन्हें एक प्रतिरोधी समाज में संगठित कर सके। उनका यह कार्य प्रकटतः अराजनैतिक था, लेकिन परिणाम में राजनैतिक दिशा की ओर ले जाता था। अंग्रेज ठिकानेदारों की मदद से वनभूमि–वनोपज आदि पर उनके प्राकृतिक और परम्परागत अधिकारों से उन्हें वंचित करने लगे थे। एक तरफ उनका सामंती शोषण चल रहा था, ठिकानेदार उन्हें सताते थे, जबरन वसूली करते थे, उनसे बेगार लेते थे और उनसे गुलामों जैसा सलूक किया जाता था। दूसरी तरफ वे उपनिवेशवादी शोषण से और त्रस्त किए गए। इन अत्याचारों के विरोध में हकों की माँग को राज–विरोध माना गया और उसे कुचलने के लिए विदेशी शासन ने देशी शासकों को पूरी फौजी मदद दी। उपन्यासकार ने इन अत्याचारों का और इनके प्रतिकार में संगठित होते जनान्दोलन का तथा जनान्दोलन के निर्मम दमन का एक ऐसा कथावृत्त तैयार किया है जिसे पढ़ना शुरू करने पर पाठक अंत में आकर ही दम लेता है। लेखक ने यह ध्यान रखा है कि आंदोलन की पराजय संघर्ष के अंत का संकेत न बने, वह संघर्ष के अंतिम विजय तक जारी रहने का संदेश भी दे। यह संदेश लेखक भावुक आशावाद के साथ नहीं, एक हल्की–सी उम्मीद जगा कर देता है। कथा का समापन जो इतिहास–रस देता है वह द्वन्द्व–रहित रसानन्द के रूप में नहीं मिलता। एक गहरे विषाद का अनुभव भी साथ ही जुडा होता है।

इस आदिवासी संघर्ष के आख्यान द्वारा लेखक इस समाज को उसका

खोया मानवीय गौरव लौटाता है। जिस समाज को लगभग असभ्य समझा जाता रहा है, वह एक जीता–जागता समाज है और बहुत–सी बातों में तथाकथित समाज से ज्यादा मानवीय है। स्वतंत्रता की मूलभूत मानवीय आकांक्षा से उन्हें भी उसी प्रकार विद्रोह के लिए प्रेरित किया था जैसे कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलनकारियों को। इस औपन्यासिक आख्यान की विशेषता यह है कि इसमें आदिवासी–अस्मिता को वृहत्तर समाज से काटकर नहीं देखा गया है, संघर्ष के केन्द्र में वर्ग–चरित्र है, लेखक उसे उत्पीडत और उत्पीडक वर्ग के बीच सदा से चलते आ रहे संघर्ष के रूप में ही देखता है।

संदर्भ ग्रंथः

1. "आदिवासी विमर्श" डॉ. रमेश चंद मीणा, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी,
2. "आदिवासी दुनिया" हरिराम मीणा, नेशनल बुक ट्रस्ट,इंडिया, नई दिल्ली
3. "आदिवासी और उनका इतिहास" हरिश्चन्द्र शाक्य, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली
4. "धूणी तपे तीर" हरिराम मीणा, साहित्य उपक्रम

शोधार्थी हिंदी विभाग

राजस्थान केन्द्रिय विश्वविद्यालय (अजमेर)

Email- jatonkarmal786@gmail.com

Mob- 09772094858

आदिवासी जीवन–समाज का सच और उपन्यास धार

धनंजय कुमार साव

यह एक सच है कि हम इक्कीसवीं सदी में जी रहे हैं, जो सूचना ज्ञान–विज्ञान और प्रोद्योगिकी का युग है। जहाँ समूची दुनियाँ सिमट–सी गयी है। जहाँ भारत देश की पहचान एक उभरती हुयी शक्ति के रूप में बतायी जा रही है विश्व के बड़े बाजार के रूप में ज्यादा। कहा यह भी जाता है, कि भारत 'विश्वग्राम' के कॉन्सेप्ट का अभिन्न हिस्सा है। किंतु ऐसे ही समय में जहाँ भारत को एक विकसित राष्ट्र कहकर इसका सब–कुछ उजला–उजला बताया जा रहा है, उसका एक दूसरा भी पक्ष है। जिसके अनुसार भारत राष्ट्र का एक बड़ा भू–भाग, जहाँ रौशनी की जगह गहन अँधेरा है, जहाँ भूख का तांडव प्रतिदिन होता है, जहाँ असभ्य और अस्तित्वहीन समझे जाने की घृणा और अपमान के साये में बस साँस ले रही जिंदगी है। समाजशास्त्री इसे ही मुख्यधारा से अलग आदिवासी जीवन समाज कहते हैं। प्रख्यात विद्वान मैनेजर पाण्डेय इसे परिभाषित करने के क्रम में कुछ यही कहते हैं– ''आदिवासियों के जीवन, उनकी सामाजिक संरचना, उनकी संस्कृति आदि को ध्यान में रखें, तो सुविधा के लिए यह कहा जा सकता है कि इस देश में बड़ी संख्या में और अगर आप भारत के नक़्शे को देखें, तो बहुत बड़े भू –भाग में जो लोग मुख्यधारा, तथा कथित मुख्यधारा से अलग रहते हैं, जो अपनी ज़िंदगी मध्यकालीन और आधुनिक सामाजिक प्रक्रियाओं से नहीं चलाते, बल्कि पुरानी प्रक्रिया से चलाते हैं, उन्हीं लोगों को आदिवासी कहा जाता है।''1

कहने की जरूरत नहीं है कि आज जिसे इक्कीसवीं सदी का विकसित भारत बताया जा रहा है उसका एक बड़ा भू–भाग यही आदिवासी लोगों की अविकसित दुनिया है जो समूचे भारत के विभिन्न हिस्सों में पसरी हुयी है। कहा तो यह भी जाता है कि स्वतंत्रता के वर्षों बाद भी आदिवासी जीवन–समाज के उपेक्षित होने में, निरंतर गर्त में धँसते जाने के पीछे मुख्यधारा समाज भी उत्तरदायी है, जो आदिवासी जीवन–समाज का दोहन करता हुआ एकांतिक रूप से स्वयं को समृद्ध और विकसित करता जा रहा है। आदिवासी जीवन से गहरे जुड़े सामाजिक चिंतक–विचारक वीर भारत तलवार का निम्न मंतव्य उक्त सच की ओर ही संकेत करता है– ''आदिवासी इलाकों में प्राकृतिक संसाधनों और सस्ते श्रम का शोषण

करके भारत राष्ट्र की जो प्रगति हुई वह हमारी और आपकी– भारत की विकसित राष्ट्रीयताओं के चरागाह (ग्रेजिंग ग्राउंड) बने हुए हैं। नियम है कि हर यज्ञ में बलि जरूरी है। स्वतंत्र भारत के आर्थिक विकास का जो यज्ञ पिछले पचास सालों से चल रहा है, उसमें बलि आदिवासियों की दी गई है।''2 जिसका तात्पर्य यह कहना साफ प्रतीत होता है कि आदिवासी जीवन, समाज वर्षों से भारतीय तथाकथित मुख्यधारा समाज के उपनिवेश बने हुए हैं।

उल्लेखनीय है कि आज जहाँ इक्कीसवीं सदी का भारतीय मुख्यधारा का समाज विश्व से अपना सम्पर्क–सूत्र साध रहा है, वहीं वह अपने आस–पास पसरे उपेक्षित–अविकसित आदिवासी जीवन–समाज की कितनी सुधि ले रहा है, यह यक्ष प्रश्न हमारे समाज–संस्कृति–साहित्य के सम्मुख विचारणीय है। ऐसे विकट समय में यदि हमारा साहित्य भी आधुनिक होने या कहलाने के दमें जीता हुआ इससे किनारा कर आगे बढ़ने की कवायद करता है तो यह निश्चित तौर पर उसका बौद्धिक दिवालियापन दर्शायेगा। किंतु ऐसे ही परिदृश्य में यह जानकर सुखद लगता है कि हिंदी का एक कथाकार संजीव अपनी पूरी दिलचस्पी के साथ भारत के एक आदिवासी क्षेत्र और जीवन की कथा को अपने उपन्यास के केन्द्र में लाने का पराक्रम करता है।

हिंदी कथाकार संजीव का 'धार' (1990) एक ऐसा ही उपन्यास है जो बिहार पहले अब झारखंड राज्य के एक आदिवासी जीवन और समाज (संथाल परगना) की वास्तविकता को पूरी शिद्दत से उभारता है। प्रस्तुत उपन्यास संथाल परगना के आदिवासियों के शोषण, संघर्ष और उनके जीवन की चुनौतियों के साथ उनके जेहन में पल रहे सपनों को भी स्वर देता है। संजीव का यह उपन्यास (धार) तमाम नामचीन लोगों के साथ संथाल परगना के वासियों को समर्पित है जो उनके कथाकार की आदिवासी जीवन–समाज से होने वाली गहरी सम्पृक्ति को दर्शाता है। कथाकार संजीव का यह उपन्यास दो खंडों में विभाजित है। इन दोनों खंडों में समूची कथा मैना तथा उसके परिवार–समाज के ईद–गिर्द ही घूमती है जो बाँसगड़ा आदिवासी अंचल के वृहत्तर कथ्य को अपने तई समेटे रहती है। मैना ही इस उपन्यास की कथा–नायिका है जो हिंदी उपन्यास साहित्य की परंपरा में एक अविस्मरणीय चरित्र के रूप में अपनी पहचान स्थिर करती है। प्रस्तुत उपन्यास की कथा की शुरुआत जेल की उस घटना से होती है जहाँ एक स्त्री (कैदी) जेल में जन्म दिए अपने बच्चे को छोड़कर अकेली चली जाती है। किंतु जेलर द्वारा उस नवजात शिशु को जेल के ही एक कैदी (मंगर) को सौंपने के तुरंत बाद ही वह स्त्री

अपने बच्चे को अपनाने को विवश हो जाती है। प्रस्तुत उपन्यास की उक्त घटना स्त्री के दो रूपों से हमारा साक्षात्कार कराती है। पहले रूप में वह हमें एक ऐसी स्त्री लगती है जो जेल में अपने ऊपर हुए दैहिक अत्याचार (बलात्कार) के विरोध स्वरूप अपने उस बच्चे को छोड़कर चली जाती है जो उसकी इच्छा के विपरीत उस पर थोप दिया जाता है। जबकि दूसरे रूप में वह हमें एक ऐसी स्त्री लगती है जिसके लिए एक माँ का अपने बच्चे के प्रति होने वाला ममत्व ही सर्वोपरि होता है। यह स्त्री मैना है जो जरूरत पड़ने पर अन्याय–अत्याचार की खिलाफत भी करती है और परिस्थिति की माँग के अनुसार अपना सारा अभिमान–आक्रोश त्यागकर अपनों को अपनाने के लिए आगे भी आती है। मैना की पहचान मुख्यधारा से अलग आदिवासी जीवन–समाज से होती है। जिसे जेल की नारकीय यंत्रणा उस विरोध के कारण सहना पड़ता है जो वह अपने आदिवासी अंचल और समाज को बचाने की खातिर करती है। वह अपने ही परिवार (पिता–पति) तथा उस परिवार को दलाल की भाँति इस्तेमाल करने वाली मुख्यधारा समाज की वर्चस्ववादी शक्तियों के खिलाफ खड़ी हो जाती है। मैना इस विरोध में स्वयं को अकेली पाती है, क्योंकि उसका साथ ना वह सरकार देती है जिससे वह तथाकथित शासित होती है और ना वह परिवार जहाँ वह पालित होती है; जहाँ वह घर कर के रहती है। उसकी लड़ाई दोहरी होती है, अपने–परायो दोनों से। वह उन सबकी खिलाफत करती है जो आदिवासी जीवन–समाज को गंदला करने में, उसका लूट–खसोट करने पें अमादा रहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो मैना की लड़ाई आदिवासी जीवन और समाज को मुख्यधारा समाज की पूँजीवादी शक्तियों द्वारा मुनाफे का चरागाह समझने की मानसिकता के खिलाफ होती है। यही कारण है कि वह बॉसगड़ा अंचल से तेजाब (जहर) की फैक्टरी को हटाने को कटिबद्ध होती है। इसी फैक्टरी के विरोध स्वरूप उसे जेल जाना पड़ता है; अपने उस परिवार को त्यागना पड़ता है जो महेन्द्रबाबू जैसे मुख्यधारा समाज की पूँजीवादी वर्चस्वशील शक्ति के हाथों की कठपुतली बन जाता है। महेन्द्रबाबू जैसे लोग अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने की कला में निष्णात होते है। वे एक तरफ आदिवासी समाज की जमीन हथियाने तथा उस पर अपने मुनाफे की पौध (तेजाब फैक्टरी) लगाने की चालाकी में आदिवासी समाज के धर्मभीरू व्यक्ति टेंगर की धार्मिकता (मानवीयता) को उकसाते हैं, यह कह कर कि यह फैक्टरी जरूरत मँद आदिवासियों की भूख को मिटायेगी; उनकी बुनियादी जरूरतों को पूरा करेगी, तो दूसरी तरफ आदिवासी युवकों (फोकल जैसे) की स्वछंद वृत्ति को हवा देकर उनका गलत इस्तेमाल करते हैं। वे अपने मुनाफे के

कारोबार को धर्म–सम्मत बनाने के लिए सीताराम पंडित जैसे मुख्यधारा की वर्चस्ववादी जाति के प्रतिनिधि को भी अपनी लूट में शामिल करते हैं। इस उपन्यास में सीताराम पंडित और टेंगर का निम्न संवाद उक्त सच को ही जाहिर करता है– ''तुम का चाहते हो, जिस फैक्टरी के लिए तुम राजा बलि की तरह सब–कुछ दान दे दिए, उसी का तुम्हारी बेटी बंद करवा दे और इतना आदमी भूखे मर जाय।'' ना पंडिज्जी!'' टेंगर घबरा उठा ''इ फैक्टरी अन्नपूरना माई है इ बंद नहीं होगा चाहे इसकी खातिर हमको धर्मजुद्ध ही करना पड़ेा।''3

मैना महेन्द्रबाबू के इस धर्मसम्मत कारोबार का असली रहस्य जानती है। वह इस सच से पूरी तरह बाख़बर रहती है कि तेजाब की फैक्टरी के बहाने मुख्यधारा समाज का शोषक वर्ग आदिवासी समाज की जन–जंगल–जमीन को लूटना ही नहीं चाहता है अपितु उस पूरे आदिवासी समाज को अपने लाभ के खेल में गंदला कर उसके अस्तित्व को ही लील लेना चाहता है। मैना अपनी पूरी ताकत से इन तत्वों (शोषक शक्तियों) का मुकाबला करने को आगे आती है। जिसमें उसे शर्मा जैसे बुद्धिजीवी तथा अनपढ़ मोड़ल जैसे आदिवासयिों के कुछ लोगों का साथ मिलता है। और देखते ही देखते मैना का संघर्ष पूरे आदिवासी जीवन–समाज के संघर्ष में परिणत हो जाता है। मैना की इस लड़ाई में उस पर कई तरह के प्रहार होते हैं किंतु मैना का स्वतंत्र निर्भीक व्यक्तित्व हर वार का प्रतिकार करता हुआ संघर्ष पथ पर प्रशस्त होता है। वह न सिर्फ अपने परिवार और समाज के पितृसत्तात्मक संस्कारों को धता बताती है, बल्कि अपने समाज की अंदरूनी कमजोरियों (सामाजिक–धार्मिक अंधविश्वास रूपी जड़ताओं) को भी निर्मूल करने हेतु सचेत रहती है। क्योंकि, वह जानती है कि आदिवासी समाज की इसी जड़ मान्यताओं का सहारा लेकर मुख्यधारा समाज की शोषक शक्तियाँ अपनी सत्ता को यथावत् बनाये रखती है। इस उपन्यास में मैना की माँ के अपने पति टेंगर और परोक्ष भाव से तेजाब की फैक्टरी के विरोध करने के कारण मुख्यधारा समाज की शोषक शक्तियाँ (महेन्द्रबाबू और उनके तमाम साथी) उसे जो सजा देती हैं, वह आदिवासी जड़ मान्यताओं का सहारा लेकर (मैना की माँ को डायन बताकर उसके अस्तित्व को मिटाना) ही होता है। जिसे इस उपन्यास की मैना के निम्न कथन में देखाा जा सकता है– '' जब पएले–पएले तेजाब का फैक्टरी बना न, तो हमारा माँ से बाप का झगड़ा हुआ। तब महेन्द्र बाबू जनगुरु ओझा को दो सौ रुपैया दिया। इधर गाँव में जब तेजाब का बहा हुआ पानी पी के श्याम का भैंस मर गया तो उसका बाप ओझा का पास गया। ऊ शाल का पत्ता में तेल लगा के मंतर पढ़ा, बोला मैना

का माँ डायन है उसका चलते ई ये सब होता। माँ को सब घेर लिया उसकों, बोला तू डायन है। सब ऐसे खदेड़ लिया जैसे वो मानुख जात नहीं पागल कुतिया हो।''4

किंतु मैना अपने साथ अपनी माँ की कहानी को दुबारा दुहराने नहीं देती है। वह अपने विरोध के अकेलेपन में भी बेबस न होकर शोषक–शक्तियों के खिलाफ मजबूती से खड़ी होती है। वह तेजाब (शोषक–शक्तियों द्वारा पोषित असामाजिक तत्वों) का जवाब तेजाब (प्राणघातक प्रतिकार) से देती है। यहाँ उपन्यासकार का वह स्त्री–विमर्श नज़र आता है जो यह कहता है कि स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व अपने अधिकार के लिए मजबूती से खड़े होने में ही होता है। मैना भी अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बचाकर ही अपने तथा अपने समाज के हक की लड़ाई जारी रखती है। मैना जेल की यंत्रणा से ना स्वयं टूटती है और ना अपने समाज के लोगों को टूटने देती है। इस उपन्यास के उस प्रसंग में जब सामूहिक भोज–भात के बाद उसका समूचा समाज एक जगह एकत्रित होता है तब वह लोगों का आहवान करती हुयी आदिवासी समाज की दुर्गती करने वाले तत्वों की कारस्तानियों के साथ आदिवासी क्षेत्र की वर्षों से हो रही वंचना की ओर सभी का ध्यान आकर्षित करती है– ''हमको याद आता, जब हम बच्चा था, खेती से चार–छै महीना का काम चल जाता, आज एक दिन का भी नई। खेत–खतार, पेड़ रूख कूँआ तालाब हम और हमरा बाल–बच्चा तक आज तेजाब में गल रआ है भूख में जल रआ है। पहले हम चोरी का चीज है, नई जानता था, भीख कभी नहीं माँगा, चुगली–दलाली कभी नहीं किया, इज्जत कभी नहीं बेचा, आज हम सब करता, आदत पड़ गया है, बल्कि कहें इसके बिना गुजारा नई। शरमा बाबू चाअता था कि हमको इज्जत मिले, आदमी की तरह रएँ, इसका खातिर कहाँ–कहाँ दरखास नहीं दिया, मगर कोई सुनवाई नई–सब मर गया हाकिम–सरकार, भगवान–सब। आज इ ठो सोचने की बात है कि हम ऐसे ई रएगा। पानी का पाइप हमारी छाती पर से गुजरता– हमको एक बूँद पानी नईं, रेललाइन बगले में है, मगर हमरा खातिर सौ कोस दूर वोट देने को हमको आज तक कोई बोला नईं हमरा चिट्ठी–पत्री निहाल सिंह के दुकान के पते पर आता। हमारा कोई पता–ठिकाना नई।''5

जिससे मुख्यधारा समाज और सरकार को लेकर कई सवाल खड़े होते हैं। ये सवाल आदिवासी जीवन–समाज को जल–जंगल–जमीन से महरूम करते हुए उनके अस्तित्व को झुठलाने की बदनीयत को जाहिर करते हैं। किंतु मैना इस पर भी निराश नहीं होती है, बल्कि अपने समाज के लोगों के बीच हुंकार भरती हुयी लोगों को अपने चतुर्दिक फैली खनिज–सम्पदा को अपने श्रम से निकालकर अपने

जीवन को नए तरीके से जीने का रास्ता सुझाती है– ''कोइला के खजाना पे हम रएता है फिर भी कंगाल? कब तक अइसा माफिक चलेगा?''6

मैना अपने मेहनतकश समाज को उसके श्रम का हवाला देती हुई कहती है– "कि हम अपने श्रम पर उन्हें नहीं पलने देंगे जिन्हें हमारी स्ती भर परवाह नहीं है।" मैना का उक्त स्वर समूचे आदिवासी समाज में प्राण फूँकता है जिससे पूरा समाज समवेत रूप में अपने अंचल को विशाक्त करने वाले षड़यंत्र को नाकाम करने हेतु कटिबद्ध हो जाता है– ''यह एक मीटिंग फिर क्रम–क्रम से कई मीटिंगे। सीधे–सपाट आदिवासी जिस बात पर अड़ गये, अड़ गये, उन्हें वहाँ से कोई टस–से–मस नहीं कर सकता। अब वे इस बात पर जिद पकड़ चुके थे कि इस जहर की फैक्टरी को अपने इलाके में और नहीं चलने देंगे, न खुद इसमें काम करेंगे न औरों को ही काम करने देंगे। उन्हें अपनी जमीन की सलामती चाहिए। खेती ही बच जाए, नहीं चाहिए मजदूरी।''7

कहने का अभिप्राय यह है कि मैना की अकेली लड़ाई देर से ही सही, पूरे आदिवासी समाज की लड़ाई बन जाती है। जिसमें एक कदम आगे बढ़ कर रास्ता दिखाने, शर्मा जैसे जनसेवक भी शामिल होते हैं। शर्मा जैसे लोग महेन्द्रबाबू तथा उनकी जमात की उस पूँजीवादी सोच को बेनकाब करने में आगे आते हैं, जो आदिवासी जीवन–समाज का बस अपने स्वार्थ के खेल और छल में दोहन करने में लगे रहते हैं। जनसेवक शर्मा जैसे चंद लोग ही होते हैं जो मुख्यधारा समाज के विकास के नाम पर आदिवासी अंचल के खनन और दोहन का कड़ा प्रतिवाद करते हुए लूट की सरकारी और निजी योजनाओं के विरुद्ध 'जनखदान' जैसे वैकल्पिक रास्तों को सुझाते हैं। यह 'जनखदान' इस उपन्यास के बहाने आदिवासी जीवन और समाज को अपने श्रम के सहारे स्वतंत्र रूप से अस्तित्ववान होने की न सिर्फ पहचान देता है, बल्कि स्वातंत्र्योत्तार सरकार के समक्ष पूँजीवादी नीतियों के बरक्स जनवादी नीतियों को प्राथमिकता प्रदान कर विकास को सर्वांगीण बनाने की सदिच्छा को प्रकाशित करता है। इस उपन्यास में यह स्पष्ट देखने को मिलता है कि जनखदान तथा उससे जुड़े नए कार्य में मैना समेत तमाम आदिवासी लोगों को अपने भावी जीवन के आशा–स्वप्न दिखाई देते हैं। किंतु दुःखद बात यह होती है कि मुख्यधारा की समाज–सरकार इसकी तनिक भी परवाह नहीं करती है– ''सरकार को सदा सूचित करते रहने के बावजूद अभी तक जनखदान के प्रति उन्होंने कोई स्पष्ट सकारात्मक रुख नहीं अपनाया। मजदूरी और अन्य खर्च के अलावा सारा कोयला आपके सामने छोटी पहाड़ी की शक्ल में फैला हुआ है। हमने

सरकार को लिखा है कि यह कोयला उठाकर ले जाए लेकिन उनका कोई जवाब नहीं आया।''8

यही नहीं, सरकार का पोषण करने वाले तथा उससे स्वयं पोषित होने वाले महेन्द्रबाबू जैसे मुख्यधारा समाज के पूँजीवादी लोग जनखदान को अपने अस्तित्व के लिए चुनौती मानते हैं। यहीं कारण होता है कि यह वर्ग वह तमाम प्रयास करता है कि जिससे जनखदान के अस्तित्व को मिटाना संभव हो सके। इसी प्रक्रिया में मैना और शर्मा जैसे जननेताओं को निष्क्रिय करने तथा जनखदान के कामगरों को गुमराह करने की साजिश होती है; सत्ता–समाज के आवांछनीय तत्वों–दलालों द्वारा जनखदान को लील लेने की धमकी भी दी जाती है। किंतु दिलचस्प बात यह होती है कि इससे जनखदान से जुड़े आदिवासी भयभीत नहीं होते हैं। इस उपन्यास के एक प्रसंग– शर्मा और महेन्द्रबाबू के प्रत्यक्ष संवाद– में आदिवासी समाज की प्रतिरोधी चेतना ही जाहिर होती है– ''आप खुद नहीं लड़ सकते, भाड़े के गुंडे बुलाऐंगे, हम खुद लड़ते हैं इसलिए कि हममें से हर कोई जानता है कि यह उनकी अपनी लड़ाई हैं। तीर–धनुष, बम, बन्दूक–लाठी गोली नहीं, लड़ती, लड़ता है आदमी के भीतर का नैतिक बल?''9

कहने का अभिप्राय यह है कि मैना समेत आदिवासी समाज अपनी असल ताकत को पहचान लेता है। यह ताकत उनका अपने जीवन–समाज के शोषण और लूट के खिलाफ समवेत प्रतिवादी स्वर होता है; उनकी आपसी एकाशक्ति होती है जो उनके जीवन के भावी संबल बनते हैं। इस उपन्यास में बाँसगड़ा आदिवासी समाज की एकाशक्ति और संगठित प्रतिरोधी चेतना ही उनकी धार कहलाती है। शर्मा जैसे जननेता इस धार के बने रहने में ही नहीं बल्कि इसे दिनों–दिन प्रखर बनाने में बाँसगड़ा के आदिवासी समाज का भला देखते हैं। तभी वे आदिवासी लोगों को उत्प्रेरित करते हैं– ''यह छोटी–सी जनखदान भी किरकिरी बन गई है आँख की। चारों तरफ भेड़ियें गुर्रा रहे हैं। वे हमें खा जाने पर आमादा हैं लेकिन क्या हम उनके नापाक इरादे पूरे होने देंगे? नहीं! हर्गिज नहीं। इसलिए हमें धार की जरूरत है, सतत सान से ताजा होती धार–चाहे हमें कोई भी कुर्बानी क्यों न देनी पड़े, सारा लोहा उन लोगों का, अपनी केवल धार।''10

यहाँ कहने की जरूरत नहीं है कि शर्मा के उक्त कथन में उपन्यासकार की आदिवासी जीवन–समाज के प्रति होने वाली गहरी चिंता और संवेदना साफ जाहिर होती है। उल्लेखनीय है कि इस उपन्यास के बाँसगड़ा आदिवासी समाज

की धार ही जनखदान जैसे विकल्प को जन्म देती है। जो उनके श्रमशील जीवन को एक नया अस्तित्व देता है। किंतु यह जनखदान तथा उससे जुड़ी जीवन–प्रक्रिया उन लोगों को नहीं सुहाती है जिन्हें आदिवासी समाज के उन्नयन की फिक्र की बजाय मुनाफे, केवल अपने मुनाफे की चिंता सालती है। जिन्हें आदिवासी समाज की जल–जंगल–जमीन पर जबरन अधिकार करना आता है। उनके श्रम को कौड़ियों के दाम खरीदना आता है। जिन्हें आदिवासी समाज की स्त्रियों की देह को भोगने–बेचने की सुधि लगी रहती है। जिन्हें आदिवासी युवकों को गुमराह कर अपना व्यावसायिक दलाल बनाने की चिंता रहती है। जिन्हें आदिवासी जन–जीवन की हँसी–खुशी और संस्कृतिक से कोई सरोकार नहीं होता है, वरन उनकी सामाजिक–सांस्कृति विशिष्टताओं की आड़ लेकर उनको प्रताड़ित करना आता है। यही वजह है कि महेन्द्रबाबू समेत तमाम पूँजीवादी शक्तियाँ बाँसगड़ा आदिवासी समाज की धार तथा उसकी रचना जनखदान को अपने विलास–पूर्ण जीवन के लिए संकट मानती हैं। इसलिए महेन्द्रबाबू की पूरी जमात इस जनखदान तथा उसके नेतृत्व से भयभीत होकर लामबंद होती हैं ताकि इस जनखदान को खत्म किया जाए। उपन्यास में महेन्द्रबाबू का निम्न कथन उक्त सच को ही प्रकाशित करता है– ''इलाके में अभी तक एक शाख थी। सिर उठाकर, भर नजर आँख में आँख डालकर कोई ताक दे, ऐसा लाल किसी माँ ने पैदा ही नहीं किया। जानगुरु हो माझी हड़ाम (प्रधान), नेता हो या अफसर–सब अपने था। बड़े 'हूल' और छोटे हूल (संथाल परगना के हूल विद्रोह) हमारा कुछ खास न बिगाड़ सके। लेकिन जिस औरत और लौंडे को आप लोगों के कहने के चलते छोड़ते रहे वही आज सबसे बड़े सिरदर्द बन गए हैं। बाहर तो बाहर, घर के नौकर भी फोड़ ले गये ये। सब जनखदान।''11

विडम्बना तो इस बात की होती है कि महेन्द्रबाबू जैसे लोगों के कुकृत्य में देश की जनविरोधी सत्ता भी शामिल होती है। जिसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि सत्ता का जनविरोधी हाथ एक तरफ महेन्द्रबाबू के अवैध खदान को सुरक्षा प्रदान करता है जबकि दूसरी तरफ मैना समेत तमाम आदिवासियों की पहचान वाले जनखदान को जो अपनी नेकनिष्ठा को पहले ही जाहिर कर चुका होता है, उखाड़ फेंकने को आगे बढ़ता है। क्योंकि सत्ता का हित मैना या उसकी जमात के लोगों से नहीं सधता है, बल्कि महेन्द्रबाबू तथा उनके गिरोह से सधता है जो सत्ता के चुनावी खेल को सफल करने का रणकौशल (जनबल–धनबल का प्रयोग) जानते हैं। मैना तथा उसके समाज की विडम्बना यह होती है जिस सत्ता–सरकार को जनखदान

की नेक–भावना की तस्दीक करना होता है, वही अपनी क्रूरता में उस पर बुलडोजर चलवा देता है– ''बुलडोजर 'इन्दिरा गाँधी जनकल्याण खदान' को पाटने गया है। सामने इंदिरा जी का आशीर्वाद देता हाथ है, जैसे ट्रैफिक का सिग्नल हो। बुलडोजर ठिठक जाता है। आगे नहीं बढ़ता, वापस मुड़ता है। अरे भागो, जनखदान की ओर आ रहा है, लो ढलान की ओर बढ़ा मैना! कहाँ है मैना? बुलडोजर को संभ्रम हुआ– 'फिर एक मूरत इन्दिराजी की! अरे यह तो मैना है, यहाँ की मजूरन।' हट जाओ सामने से।' जवाब में सिर्फ एक खिलखिलाहट। बुलडोजर जो मूर्ति को बचाने के चलते चोरों की खदान ध्वस्त नहीं कर सका, इस बार दुविधा त्यागकर जिंदा मैना को रौंदते हुए चला गया।''13

जिससे यह जाहिर होता है कि सत्ता को सिर्फ अपनी फिक्र सताती है इसलिए वह उस मूर्ति को तवज्जो देती है जो निर्जीव होकर भी उसे शासन करने का बार–बार मौका देती है, किंतु वह जिंदा हाड़–माँस की स्त्री या उसके समाज की जनाकांक्षा की तनिक भी परवाह नहीं करती है जिसकी सेवा के नाम पर वह चुनी जाती है। पर सत्ता का यह दमन मैना को नहीं मार पाता है। इस उपन्यास में यह देखने को मिलता है कि जनखदान से जुड़े मैना के तमाम साथियों जिनमें शर्मा, पंडा, माँझी और बीसों गाँव के बहुतरे लोग होते हैं, जिन्हें अंधी और भ्रष्ट सत्ता अपराधी (मजदूर की बजाय) मानती है और हाजत में ठूस देती है उनमें मैना का कहीं कोई जिक्र नहीं रहता है। क्योंकि, मैना हर उस जगह होती है जहाँ शोषण और अन्याय के विरोध में प्रतिकार चेतना संगठित हो रही होती है। वह लछमनपुर के उस सूती मिल के परिवेश में भी जिंदा रहती है जहाँ मजदूरों का शोषण किया जा रहा होता है। और उस आदिवासी समाज में भी जिसे मुख्यधारा समाज की पूँजीवादी शक्तियाँ गंदला और विषाक्त करने में; उसकी खनिज सम्पदा को सत्ता के साथ मिलकर लूटने में लगी रहती है। मैना ही आदिवासी–जीवन–समाज की धार का प्रतीक बनती है। जिसके प्रयास जनखदान को तो निरस्त किया जा सकता है किंतु उसकी धार आदिवासी जीवन–समाज की एकाशक्ति और उनकी संगठित प्रतिकार चेतना को खत्म करना संभव नहीं होता है। यही इस उपन्यास की मूल संवेदना होती है।

वैसे देखा जाए तो इस उपन्यास में मैना ही केन्द्रीय चरित्र होती है और उसकी कथा मुख्य धुरी किंतु इसके अतिरिक्त भी इस उपन्यास में कई ऐसे पात्र होते है जो समग्रता में आदिवासी जीवन–समाज को जाहिर करते हैं जिसका संष्लिष्ट उद्घाटन उपन्यासकार का निहितार्थ होता है। उदाहरणस्वरूप इस

उपन्यास में मंगर का चरित्र तथा उसका अंतर्द्वन्द्व आदिवासी जीवन–समाज की सभ्यता–संस्कृति, उनके रहन–सहन से मुख्यधारा समाज की घृणा और विलगाव रूपी वह संस्कार उद्‌घाटित होता है जो सदियों से उनके भीतर पलता हुआ एक ग्रंथि का रूप ले लेता है। इसी तरह जानगुरु ओझा, टेंगर और फोकल का चरित्र आदिवासी जीवन–समाज की दुर्गति के पीछे उनकी अंदरुनी कमजोरियों सामाजिक–धार्मिक अंधविश्वास, भोली मानसिकता, उच्छृंखल कामनाएँ का जिम्मेवार होना दर्शाता है। जिसका लाभ पूँजीवादी शक्तियाँ (महेन्द्रबाबू जैसे लोग) उठाती हैं, जिनका इस्तेमाल वे अपने स्वार्थपूर्ण हितों को साधने में करते हैं। इसी भाँति शर्मा तथा उसके साथियों का चरित्र मुख्यधारा समाज से क्षीण रूप में ही सही, उठने वाली साम्यवादी चेतना को दर्शाता है जो सबका समान विकास होने की आवाज उठाती है। चाहे वह मुख्यधारा समाज का वंचित–शोषित वर्ग हो या सदियों से अस्तित्वहीन समझा जाने वाला आदिवासी जीवन–समाज। इसी तरह रमिया, सितवा, मैना की माँ तथा अन्य आदिवासी स्त्रियाँ का चरित्र आदिवासी समाज में नारी–दुर्गति और नारी–शोषण का सच दिखाते हैं।

इस प्रकार समग्रता में कहा जाये तो संजीव का उपन्यास 'धार' मैना और उसके समाज की कथा के माध्यम से बिहार अब झारखंड राज्य के आदिवासी जीवन–समाज (संथाल परगना) को जीवंत करने का प्रयास करता है। जहाँ आदिवासी जीवन–समाज स्वतंत्रता के वर्षों बाद भी बुनियादी जरूरतों के अभाव से गुजर रहा होता है। जहाँ मुख्यधारा की पूँजीवादी शोषक शक्तियों उनके जल–जमीन–जंगल को हड़पने तथा उसे विषाक्त करने हेतु सदा सचेश्ट रहती है। जहाँ सत्ता का भ्रष्ट रूप आदिवासी जीवन–समाज की सम्पदा की लूट को तो खुली छूट देता है किंतु उनकी जनाकांक्षा जनखदान की तनिक भी परवाह नहीं करता है। संजीव का यह उपन्यास अपने कथ्यात्मक कैनवास में मैना तथा अन्य गौण चरित्रों के माध्यम से आदिवासी जीवन–समाज के शोषण, संघर्ष और स्वप्न को पूरी गंभीरता से प्रस्तुत करता है। साथ ही उनका उपन्यासकार अपने निहितार्थ में संपूर्ण समाज को अपने आस–पास अविकसित, वंचित पड़ी आदिवासी जाति और समाज को आगे बढ़कर थामने का आहवान भी करता है, ठीक कवि भवानी प्रसाद मिश्र की इन संवेदनात्मक पंक्तियों की भाँति–

''मुझे कोई हवा पुकार रही है/ कि घर के बाहर निकलो
तुम्हारे बाहर आए बिना एक समूची जाति एक समूची संस्कृति हार रही

है ।''13

संदर्भ सूचीः

1. उद्धृत, वर्तमान साहित्य, अप्रैल 2009
2. उद्धृत आलोचना, अक्टूबर–दिसम्बर, 2008
3. संजीव, धार उपन्यास, राधाकृष्ण प्राइवेट लिमिटेड, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1990, पृ. 22
4. उद्धृत, पृ. 39
5. उद्धृत, पृ. 54
6. उद्धृत पृ. 54
7. उद्धृत, पृ . 55
8. उद्धृत, पृ . 157
9. उद्धृत, पृ .146
10. उद्धृत, पृ. 157–158
11. उद्धृत, पृ. 168
12. उद्धृत, पृ. 199
13. सिंह विजय बहादुर (संपादक), भवानी प्रसाद मिश्रः परिचय एवं प्रतिनिधि कविताएँ, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण : 1986, पृ. 104

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

कालियागंज कॉलेज, उत्तर दिनाजपुर

पश्चिम बंगाल,

मो. 09474439158

email: shawdhananjay10@gmail.com

'ग्लोबल गाँव के देवता': अन्य के अनन्य हो जाने की कथा

अमरेन्द्र त्रिपाठी

रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' हाल–फ़िलहाल में हिन्दी के सर्वाधिक चर्चित उपन्यासों में से एक है। इसकी चर्चा की कई वजहें हैं लेकिन उनमें सबसे खास है– आदिवासी जीवन की प्रमाणिक, संतुलित एवं व्यवस्थित उपस्थिति। हिन्दी में आदिवासी जीवन पर कई उपन्यास लिखे गये जिनमें से कई आदिवासी लेखकों द्वारा भी लिखे गये हैं, लेकिन यह रचना उन सबसे इस मामले में खास है कि इसमें न 'बाहरी' समाज के लेखकों की सांत्वना भरी दृष्टि है और न ही 'अस्मितावादी' नजरिये की विभाजनपरक मानसिकता। रणेन्द्र किसी भी नारे और नजरिये के बाहर जाकर झारखंड के असुर आदिवासियों की ऐतिहासिक भूमिका से लेकर तत्कालिक दूरवस्था का मार्मिक खाका खींचते है, लेकिन उनकी नजर सिर्फ़ उन्हीं तक सिमट कर नहीं रह गयी है। यह उपन्यास वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में आदिवासी समाज के खिलाफ़ जारी अंतर्राष्ट्रीय साजिशों का भी खुलासा करता है।

कुल जमा सौ पन्नों का यह उपन्यास झारखंड के कोयलबीघा अंचल में बसने वाले उन असुर आदिवासियों पर केंद्रित है जो सदियों से लोहा पिघलाने का काम करते थे। मनुष्य के इतिहास में लोहे की खोज और प्रयोग एक नये युग की शुरुआत का सूचक है पर बिडम्बना यह है कि आदिम युग से जो इस कला में प्रवीण थे उनके जीवन में कभी नया सवेरा नहीं आया। इसकी सबसे बड़ी वजह उनकी मासूमियत और शांतिप्रियता रही। त्रासदी यह कि धर्म–ज्ञान–सत्ता के द्वारा आदिम युग से पहचान के विकृतिकरण से लेकर इनके अस्तित्व के विनाश तक का एकतरफ़ा कार्यक्रम आज भी जारी है। सत्ता ने सदैव साजिशन इन्हें ज्ञान, स्वास्थ्य और सभ्यता से दूर रखा और फ़िर असुर नाम देकर इनकी उपस्थिति तक को भयावह बना दिया। जो घृणास्पद थे वे सुर बन महलों में बस कर यौन–रस में डूब गये और जो प्रकृति के बेटे थे उन्हें असुर बनाकर जंगलों में धकेल दिया गया। आज उन जंगलों पर भी सुरों के वंशजों की नजर है। रणेन्द्र असुरों पर आये संकट को महज तात्कालिक संकट नहीं मानते और न ही स्थानीय, यह सार्वकालिक और

सार्वदेशिक शोषण का एक छोटा भयावह चित्र है। यही कारण है कि लालचन, रुमझुम की विपदा उन्हें वैदिक युग से लेकर अमेरिका के रेड इंडियंस के इतिहास के अंधेरों में खो जाने को मजबूर करती है। एक असुर की हत्या से आहत कथानायक सोचता है– "यह केवल एक लालचन दा के चाचा की हत्या का सवाल नहीं था और न किसी असुर पर पहली बार या आखिरी बार आक्रमण हुआ था। न यह पहली बार जमीन के टुकड़े के लिए हत्या हुई थी। यह हजारों–हजार साल से चल रहे घोषित–अघोषित युद्ध की नवीनतम कड़ी मात्र था। कटे सिर ने हमारी काल और देश की समझ को गड़बड़ा दिया था। समझ में ही नहीं आ रहा था कि हम वैदिक काल में हैं कि इक्कीसवीं सदी में। वर्तमान अतीत में ढलता जा रहा था और अतीत की कत्लों–गारत वर्तमान में नजरों के सामने नाच रही थी। वह क्या था जिसके कारण एक समुदाय बहुसंख्यक समुदाय के लिए 'अन्य' में तब्दील हो गया। हमसे अलग, 'अन्य', एक शत्रु। चूँकि उसके जीवन–यापन का तरीका हमसे भिन्न था, इसीलिए वह हत्या के योग्य, गालियाँ देने योग्य कैसे हो गया? आग की खोज, धातुओं की खोज, धातु पिघलाने की कला किन्हीं को इतनी बुरी क्यों लगी कि इस कारीगर जाति को बार–बार आक्रमणों में नष्ट होने और पीछे हटने के लिए मजबूर होना पड़ा। बरबस प्राचीन अमेरीका के इंका, माया, एज्टैक और सैकड़ों अन्य रेड इंडियंस याद आये। इसी तरह से खदेड़े जानेवाले, इसी तरह से मार दिये जाने वाले।"

आदिवासियों का जीवन भले ही नारकीय हो लेकिन उनका जीवन–दर्शन महनीय रहा है, यह बात दूसरी है कि आधुनिकता की आँधी का एक जोरदार प्रहार उस पर भी हो रहा है। मानवीय चेतना, सामुदायिकता की मनोभावना, स्त्री–पुरुष संबंधों में सापेक्षिक समानता, वैचारिक आजादी, सामूहिक विकास की भावना, स्वाभिमान, स्वतंत्रता एवं सम्मान की चाह आदि तमाम लोकतांत्रिक और आधुनिक विचारों–रस्मों की आदिवासी समाज में उपस्थिति सदियों से रही है, और शायद इन्हीं वजहों से उनका जीवन संकटपूर्ण रहा है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' की हर पंक्ति यह घोषित करती है कि जंगलों में रहने वाली जनजातियाँ 'जंगली' नहीं होतीं, जंगली जानवरों ने तो हजारों साल पहले ही नगरों का रास्ता अख्तियार कर लिया था। तथाकथित सभ्य समाजों की तुलना में आदिवासी समाजों में स्त्री के प्रति कम अनुदारता है, और संकटपूर्ण एवं संघर्षमय जीवन के कारण घर की चारदीवारी से वे मुक्त भी हैं। पूर्वोत्तर भारत से लेकर झारखंड तक आदिवासी समाज में बलात्कार के मामले न के बराबर घटित होते हैं, और जो होते भी हैं वह 'सभ्य' लोगों

की वजह से। असुर समाज में स्त्रियों को जनानी न कहकर 'सयानी' कहा जाता है और परिवार का दारोमदार उनके कंधों पर होता है लेकिन इसका फ़ायदा कम उन्हें नुकसान ही ज्यादा हुआ। पूँजीपतियों ने उनको भी एक 'कच्चे माल' में तब्दील कर दिया। बाबा से लेकर बाहरी दलालों तक ने सयानियों के खुलेपन को खाद में बदल दिया जिससे जन्मी नयी–नयी पौध भी उनकी वासना का शिकार हो जाती हैं। शिवदास बाबा के कन्या विद्यालय, मैनेजर किशन कन्हैया पांडेय के गेस्ट हाउस से लेकर दिल्ली की मंडियों तक में इन सयानियों की धार को कुंद किया जाता है और जो उनकी पकड़ में नहीं आतीं, ललिता की तरह उनके परखच्चे उड़ा दिये जाते हैं। उपन्यास में जगह–जगह असुर स्त्रियों की वीरता और बुद्धिमानी के किस्से हैं पर सिंगबोंगा की कथा उनकी सार्वकालिक नियति की सटीक व्याख्या करता है। कथानायक इस लोककथा का नवीन पाठ यूँ रचता है– "सिंगबोंगा की कहानी में क्या है? सिंगबोंगा ने खसरा लड़का का रूप धरकर असुरों को न केवल मूर्ख बनाया बल्कि भट्ठी में बन्द कर जला दिया। निश्चित तौर पर भट्ठी में जलाया जाना हू–ब–हू नहीं घटा होगा। लड़ाई में छल से या धोखे से असुरों को खत्म किया गया। लेकिन देखने वाली बात यह है कि धोखा असुर पुरुषों ने खाया, स्त्रियों ने नहीं। उस कहानी में भी असुर औरतें ही समझदारी दिखाती, विरोध दर्ज कराती दिखती हैं। वही आकाशचारी देवता सिंगबोंगा का पैर पकड़ रोकने की ईमानदार कोशिश करती दिखती हैं। भले उसकी कीमत चुकानी पड़ी हो और कहानी में उनका रूप बिगाड़कर उन्हें चुड़ैल–भूत बना दिया गया हो।" आज भी असुर स्त्रियाँ अपनी तेजस्विता की कीमत चुका रहीं हैं और उनकी पहचान लगातार मिट रही है।

असुरों के दुश्मन उनके अंधविश्वास एवं अज्ञानता भी हैं, लेकिन इसकी उपस्थिति और विस्तार भी देवताओं की साजिश का ही परिणाम है। शिक्षा–तंत्र पर चोट पहुँचाकर वे उन्हें अज्ञानी बनाते हैं और अर्थ–तंत्र को तहस–नहस कर उनके अंधविश्वास के फ़ैलाव के लिए मजबूत जमीन तैयार करते हैं। पाठरपाट का विद्यालय उनको मुँह चिढ़ाता हुआ उनके पड़ोस में खड़ा है लेकिन उससे फ़ैलने वाले ज्ञान में असुरों की कोई साझेदारी नहीं है। वे आज भी मुड़ीकटवा के आदिम अंधविश्वास से जूझ रहे हैं। मुड़ीकटवा लोगों का आतंक कोयलबीधा अंचल में तो आज भी है, लेकिन इसी कार्य के लिए प्रसिद्ध गाँव कटिया में अब वह उँगली चीरकर देवी को रक्त चढ़ाने के प्रतीकात्मक स्तर पर पहुँच गया है। लालचन के शब्दों में इसकी वजह– 'उसी कमेटी पंचायत में ही एक गाँव का नाम ही कटिया है। वहाँ भी हाल–हाल तक यही, आदमी पूजने का चलन था। अब तो रोड–शोड बन

गया। स्कूल–आँगनबाड़ी चलने लगे। लोग पढ़ने–लिखने लगे। बाहर–भीतर आने–जाने लगे, तो सुधरे।'

आदिवासियों की अज्ञानता और गरीबी का फ़ायदा उठाकर उन्हें धार्मिक दलदल में फ़ांसने की कोशिश बड़े पैमाने पर जारी है। जैसे उनके आर्थिक शोषण का फ़लक वैश्विक है वैसे ही धार्मिक शोषण का भी। ईसाईयत अमेरिका के रेड इंडियंस से लेकर पूर्वोत्तर के आदिवासियों तक को अपनी गिरफ़्त में लेकर उन्हें अपने मूल धर्म से जुदा कर रहा है। समस्त पूर्वोत्तर भारत ईसाईयत की गिरफ़्त में आ गया है जिसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया भारत की प्रभुसत्ता और उसकी राष्ट्रभाषा हिन्दी का विरोध है। झारखंड में भी यह कोशिश जारी है, लेकिन इन हालातों के लिए जमीन तैयार की है भारत के राष्ट्र–राज्य ने जिसने अपनी पारंपरिक सोच के कारण सदियों से उन्हें अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर किया है। आज आदिवासी अपने जल, जंगल के साथ–साथ आस्था से भी जुदा हो जाने के लिए अभिशप्त हैं। सत्ता–वर्चस्व में धर्म की षडयंत्रकारी भूमिका अब बेपर्दा हो गयी है। ईसाईयत और अंग्रेजी वैश्विक पूँजीवाद का हथियार है इसे भी विचारक समझने लगे हैं, उसे कहने में भले ही हिचकते हों। वैश्वीकरण का नारा है– एकरूपता; अर्थात एक आर्थिक व्यवस्था, एक भाषा, एक धर्म, एक सांस्कृतिक–साहित्यिक बोध। ताकि धर्म के नाम पर हम एक फ़तवा दें और सारी दुनिया उसे मानने को मजबूर हो जाय, एक फ़िल्म बनायें या एक किताब लिखें और सारी दुनिया उसे देख–पढ़कर मगन हो जाये। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में शिवदास बाबा के कार्यकलाप के द्वारा इस प्रक्रिया का स्थानीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। बाबा धार्मिक चोले में मल्टीनेशनल कम्पनियों का दलाल है, उसका कन्या विद्यालय सरकारी अधिकारियों को फ़ांसने का केंद्र है और उसका कंठी अभियान बाजार की साजिश। कंठी धारण करने वाले उसके भक्तों को काले पशुओं का मांस वर्जित है, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे प्रोटीन के एक मात्र स्रोत से वंचित हो गये और उनकी एकमात्र जमापूंजी काले पशु कौडियों के दाम बिकने लगे। असुर स्वास्थ्य और संपत्ति दोनों से दूर हो गये, और उन्हें इसकी खबर तक नहीं लगी। उनके काले पशु बाजार पहुंच गये जहाँ पहले से ही विद्यमान बाबा के चेलों ने उन्हें खरीद लिया और उससे मिले पैसे से वह कन्या विद्यालय खड़ा किया गया जो बाबा के रसूख का सर्वाधिक शक्तिशाली स्रोत था। बाजार, सत्ता और धर्म की साजिशी साझेदारी के विषय में कथावाचक कहता है– "शिवदास बाबा और विधायकजी का यह सोचना सही था कि वेदांग जैसी बड़ी कम्पनी इस इलाके में केवल कँटीले तार की बाड़–बन्दी करने नहीं आयी है। उसे

अपनी फ़ैक्ट्री के लिए कोयलबीघा अंचल में कई सौ एकड़ जमीन चाहिए। एम. पी. साहब ने दिल्ली में ही सेटिंग कर ली थी। वही छोटे काम के बहाने, इलाके को जानने समझने–जीतने का त्रिसूत्री फ़ॉर्मूला समझाकर ले आये थे। अब बाबाजी और विधायकजी के शेयर की सौदेबाजी होनी थी। इन दोनों का मानना था कि पूँजी, तकनीक और लेबर के साथ भूमि भी किसी इंडस्ट्री का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। चूँकि कोयलबीघा में भूमि का जुगाड़ उनके बिना हो नहीं सकता इसीलिए उन्हें कम्पनी में शेयर मिलना चाहिए। कम्पनी शेयर देने को तो सपने में भी नहीं सोच सकती थी। इसी हुज्जत में पाट की लड़ाई परवान चढ़ गयी थी।"

दरअसल यह उपन्यास असुर समाज की पीड़ा से ज्यादा उस साजिश के बारे में है जो असुर समाज को नष्ट करने के लिए रची जा रही है, और यह साजिश केवल असुर समाज तक सीमित नहीं है। फ़िलहाल असुर उनके निशाने पर इसलिए हैं क्योंकि उनके पास बॉक्साइट के खदान हैं। कल हमारे पास कुछ अमूल्य होगा तो हम भी बच नहीं पायेंगे। पूँजीवाद के लिए हर इंसान महज एक मजदूर है, और उसका जीवन तब तक ही जरूरी है जब तक पूँजीपति को उसकी जरूरत है। असुर जब खदान मालिकों के खिलाफ़ विद्रोह करते हैं तब प्रलोभन से लेकर विनाश तक के हथकंडे उनके खिलाफ़ अपनाये जाते हैं, लेकिन उनका सर्वनाश नहीं किया जाता क्योंकि खदानों के लिए सस्ते मजदूर भी चाहिए। सर्वाधिक यातनादायक यह है कि असुर इस लड़ाई में नितांत अकेले हैं। प्रशासन से लेकर मीडिया तक उनके खिलाफ़ है। उनके नरसंहार तक की खबर अखबारों में नहीं आती, उसकी जगह है एक हैंडसम क्रिकेटर के एक ओवर में छह छक्के की खबर। यह उपन्यास हमें अपने समय के प्रति सचेत ही नहीं करता बल्कि आने वाले समय के प्रति सावधान भी करता है। ब्रेख्त के शब्द हैं– 'जो हँस रहा है / भयानक खबर उस तक अभी नहीं पहुँची।' तब ऐसे समय में तमाम विभाजनों को नकार कर इन अमानवीय शक्तियों के खिलाफ़ एकजुट हो जाने का वक्त है, जिस ओर यह उपन्यास संकेत करता है।

अस्मितावादी मानस से संचालित तमाम विमर्श समाज के साथ–साथ साहित्य को भी 'आत्म' और 'अन्य' के खाँचे में बाँटकर देखते हैं। इतना तो सच है कि विभाजन का यह मानस सदियों पुराना है और इसकी जड़ें हमारी चेतना में गहरे बैठी हैं। पर यह भी सच है कि इसकी निर्मिति सत्ताधारियों की साजिश के कारण हुई थी। अमीर–गरीब, श्वेत–अश्वेत, ब्राह्मण–शूद्र, जंगली–मैदानी, सभ्य–असभ्य का हर विभाजन सत्ता निर्माण से लेकर सत्ता संचालन की अहम कड़ी है। यह

दरिद्रता के दलदल में फ़ंसी बहुसंख्यक आबादी की एकता को भंग करने की सधी और सीधी चाल है। ज्ञानीजन इसे सैद्धांतिक जामा पहनाते हैं। इस आलोक में 'हमारे दुख हमारे हैं और आपके आपके' की शैली वाले अस्मितावादी नारे पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। वैश्वीकरण की आज की आंधी में न किसी का सुख नितांत अपना है और न ही दुख, हमारे सपने तक उनके द्वारा प्रायोजित हैं। 'ग्लोबल गाँव के देवता' 'अन्य' होने की यातना का आख्यान तो रचता है पर 'आत्म' और 'अन्य' के विभाजन को नकार देता है। उपन्यास का नायक या कहें कथावाचक एक 'बाहरी' व्यक्ति है और इस रचना में उसकी मनोगत यात्रा अन्य से अनन्य की ओर है। उचाट मन से मजबूरी में भौंरापाट विद्यालय में शिक्षक बनकर जाने के बाद धीरे–धीरे वह उस परिवेश के साथ जुड़ता है। बाहरी व्यक्ति का यह आभ्यंतरीकरण इस विश्वसनीयता के साथ होता है कि उसकी बातें 'बयान' बन जाती हैं। आदिवासियों की दुरवस्था का खुद को जिम्मेवार मानते हुए अपराध–बोध से भर जाना उसके चरित्र और आदिवासी समाज के प्रति उसके लगाव को विश्वसनीय बनाता है। यह रचना अस्मितावादी विमर्श में अन्य की भागीदारी की नयी राह खोलता है, जिसके बिना आज की कोई लड़ाई अपने मुकाम तक नहीं पहुँच सकती।

आदिवासी समाज का शोषण काल और भूगोल दोनों की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। अमेरिका में बैठे स्वामी झारखंड के आदिवासियों का शारीरिक दोहन कर रहे हैं इसीलिए कथावाचक की सहानुभूति केवल झारखंड के असुर समाज से न होकर मणिपुर की उर्मिला इरोम से भी है, और सत्रहवीं सदी की रेड इंडियन राजकुमारी पोकाहांतस से भी। दरअसल वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में आवारा पूंजी का प्रभाव–विस्तार जितनी तेजी से हुआ है और उसके परिणामस्वरूप गरीबी और गरीबों का, उतनी तेजी से दुनिया के सर्वहारा वर्ग में एकता का सूत्र विकसित नहीं हो पाया है। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में जिस तरह की क्रांतिकारी शक्तियाँ सक्रिय थीं वैसा अब नहीं है। अब जबकि ग्राम्शी के शब्दों में दो क्रांतियों के बीच के 'पुनर्स्थापन' का समय है तब दुनिया भर में स्थानीय संघर्षों की बाढ़ है। 'ग्लोबल गांव के देवता' 'पुनर्स्थापन' के दौर में जारी छोटी–छोटी लड़ाइयों का प्रभावी और विश्वसनीय तस्वीर प्रस्तुत करता है। इस लड़ाई की सबसे बड़ी खासियत है कि इसमें देवताओं के चेहरे नहीं है पर उनकी एकता और रणनीति है और हर असुर उनके निशाने पर है। असुर भी संघर्षरत हैं लेकिन उनके संघर्ष में किसी भी बाहरी शक्ति का कोई सहयोग नहीं है। उनकी लड़ाई में केवल एक बाहरी

व्यक्ति शामिल है और वह भी महज सहयोग एवं सहानुभूति के स्तर पर, कथावाचक। असुरों की लड़ाई चरम स्थानीय है। इस तरह के संघर्ष और उसकी शक्ति–सीमा के विषय में एजाज अहमद लिखते हैं– 'पुनर्स्थापना' की यह अवधि प्रतिरोध की शक्तियों के लिए प्रायः परास्त और संकुचित होने की ही नहीं, बल्कि शंका, आत्मरक्षा, विसर्जन, प्रयोग और ग्राम्शी के शब्दों में कहें तो 'अणुतुल्य' गति वाले आंदोलनों की होती है, मानो यह सतह के नीचे छोटे–छोटे और चक्करदार कदमों में घटित हो रहा हो। इस अवधि में प्रतिरोध बिखरे हुए और स्थानीय रूपों में सर्वत्र जारी रहता है, परंतु केंद्रीकृत रूप में कहीं नहीं होता।'

आखिर सवाल यह भी है कि तमाम अस्मितावादी विचारक मुख्यधारा के मनीषियों से इतने सावधान क्यों हैं? क्यों वे किसी बाहरी व्यक्ति को अपने निजी स्पेस या संघर्ष में प्रवेश की अनुमति नहीं देते? इसकी सबसे बड़ी वजह है उनके शोषण के दीर्घकालीन इतिहास की स्मृतियाँ। यदि इस उपन्यास के संदर्भ में हम विचार करें तो स्पष्ट है कि आदिवासियों का जीवन मुख्यधारा के लिए इतना अप्रासंगिक है कि भारतीय उच्च वर्ग को ही नहीं बल्कि उसके मध्यवर्ग को भी लगता है कि क्या उनके जीवन का कोई मूल्य या महत्त्व है? उनके प्रति हमारी उपेक्षा इस कदर है कि गंदूर के जीवन रक्षा के लिए उसकी माँ द्वारा नाम–विकृति का किया गया उपाय भी अनावश्यक लगता है। मेस की साफ़–सफ़ाई पर नैरेटर द्वारा जोर दिये जाने पर हेडमिस्ट्रेस द्वारा दिया गया जवाब इस मानसिकता को ज्यादा बेहतर तरीके से व्यंजित करता है। आदिवासियों का संघर्ष इस मानसिकता से भी है जो उनकी पीड़ा को घना करता है और पूँजीपतियों को नैतिक बल भी प्रदान करता है। एक बाहरी व्यक्ति तबतक उनका साथी नहीं हो सकता जबतक वह अपने भीतर बैठे उस मानस से नहीं टकराता जो किसी स्त्री, दलित, आदिवासी, ब्लैक को 'अन्य' मानता है। उपन्यास का कथावाचक उस से टकराता है और इस कदर उनका हो जाता है कि उसके माध्यम से व्यक्त उनके जीवन से गैर–आदिवासी पाठक की महज सहानुभूति नहीं होती बल्कि साधारणीकरण हो जाता है। वह गैर–आदिवासी पाठकों के भीतर अपराध–बोध की भावना भर देता है। रचना के इस साधारणीकरण का प्रभाव जब जीवन में सामान्यीकरण के स्तर पर हो जाएगा तब किसी सामूहिक संघर्ष की जमीन तैयार होगी। पूँजीवादी ताकतें इस सामूहिकीकरण के खिलाफ़ सदैव तत्पर हैं, यह उपन्यास उसका रचनात्मक प्रतिवाद है। प्रसिद्ध आलोचक विजय बहादुर सिंह ने इस उपन्यास के विषय में लिखा है कि– "कुल सौ पृष्ठों में सीमित यह उपन्यास सुर–असुर वाले वैदिक काल

तक जाता हुआ जिस तरह हम सभ्यतावादियों को खुद अपने ही कटघरे में खड़ा करता है वह जितना विडम्बनापरक है, उतना ही दुखदायी और चिंताजनक भी। करूणा और प्रेम से लबालब भरी यह कथा आधुनिक, उत्तर आधुनिक विकासवादियों की अमानवीयता और नृशंसता की जैसी कहानियाँ कहती हैं, उसे सुन–समझ कर अपनी ही सभ्यता को लेकर चिढ़–सी पैदा होने लगती है। बार–बार मन खिन्न और उदास होता है और सोचता है कि 'विकास' का मूल अर्थ क्या वस्तुतः विनाश है? या फ़िर कमजोर पर ताकतवर पर विजय।"

यह उपन्यास शिल्प के स्तर पर भी एक नया प्रयोग है। यह मिथकों का यथार्थीकरण और झूठों का पर्दाफ़ाश करता है। कल्पना और यथार्थ में निरंतर आवाजाही का लेखकीय कौशल इस उपन्यास में यथार्थ का नया रंग भरता है। इसके तमाम पात्र काल्पनिक हैं लेकिन कई वास्तविक पात्रों का नामोंल्लेख उन्हें वास्तविकता के रंग में रंग देता है। भाषा के स्तर पर जो ठेठपन है वह इसे महज एक कथात्मक कृति नहीं रहने देता। कहीं–कहीं मार्खेज के 'जादुई यथार्थवाद' की झलक भी मिलती है जिसका व्यापक प्रयोग रणेन्द्र ने अपने नये उपन्यास 'गायब होता देश' में किया है।

ग्लोब के गाँव बन जाने की कीमत चुका रहे लोगों के दर्द और उसका मजा ले रहे देवताओं की कहानी उपन्यास में एक साथ कही गयी है। दुखद यह है कि सभ्यता के निर्माण से लेकर उसके विकास के तमाम चरणों के गुजर जाने के बाद भी देवता और दानव की तस्वीर में कोई बदलाव संभव नहीं हो पाया है। अब भी असुर असुर ही हैं और देवता देवता ही। असुरों में से कुछ देवता बनने की चाह में विभीषण बन गये हैं और देवताओं में से कुछ आत्मा की आवाज सुन कर्ण बन कर कुर्बानी देने को तैयार हैं। यह तो समय ही बतायेगा की इतिहास की धारा बदली या नहीं, फ़िलहाल तो इसके बदलने की कोई उम्मीद नजर नहीं आती, पर रणेन्द्र उम्मीद का दामन नहीं छोड़ते। उन्हें उसी राजधानी की माटी से उम्मीद है जहाँ के लोगों ने सदियों और सदैव से आदिवासियों की मिट्टी पलीद की है। उपन्यास का अंत इस आशावादी स्वर से होता है– 'राजधानी के यूनिवर्सिटी हॉस्टल से सुनील असुर अपने साथियों के साथ कोयलबीघा, पाट के लिए निकल रहा था। लड़ाई की बागडोर अब उसे सँभालनी थी।'

यह उपन्यास झारखंड के असुर आदिवासियों के वर्तमान संघर्ष पर केंद्रित है लेकिन न यह केवल असुरों की कथा है, और न ही केवल आज की। यह

आदिकाल से सत्ता और आम आदमी के बीच चले आ रहे उस चूहे–बिल्ली के खेल की कथात्मक परिणति है जिसमें हमेशा से ही भोला–भाला चूहा बहुसंख्यक होने के बावजूद बिल्ली के प्रलोभन और षडयंत्र का शिकार होता है। यह वैश्वीकरण के दौर में आम आदमी के खिलाफ़ जारी उस अंतर्राष्ट्रीय साजिश का भी खुलासा है जिसकी गिरफ़्त से कोई दूर नहीं है। यह बीसवीं सदी के तमाम महाकाव्यात्मक आख्यानों से निर्मित आम आदमी के सपनों की निर्मम हत्या का अहम दस्तावेज है और उत्तर–आधुनिक समय में बिल्लियों द्वारा दिये जा रहे अनेकानेक नारों के छद्म की ओर संकेत भी है। जो लोग इसे अस्मिता–विमर्श के खाने में डालकर एक आदिवासी उपन्यास की पहचान देने को बेताब हैं उन्होंने इस उपन्यास को शायद ठीक से नहीं पढ़ा है। यह उपन्यास अपने पाठकों को यह सीख देता है कि किसी व्यक्ति, समाज या समुदाय की पहचान भले ही एकाकी हो लेकिन आज के समय में न उसका संकट अकेला है और न उसको दूर करने वाला संघर्ष। जो ये समझते हैं कि तमाम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के निशाने पर केवल आदिवासी समुदाय हैं और उन आदिवासियों के जीवन, संघर्ष या मौत से हमें क्या लेना देना है उनके लिए पास्टर निमोलर की यह कविता प्रस्तुत है–

'पहले वे आये कम्युनिस्टों के लिए
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं कम्युनिस्ट नहीं था
फ़िर वे आये ट्रेड यूनियन वालों के लिए
और मैं कुछ भी नहीं बोला
क्योंकि मैं ट्रेड यूनियन में नहीं था
फ़िर वे आये यहूदियों के लिए
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं यहूदी नहीं था
फ़िर वे मेरे लिए आये
और तब तक कोई नहीं बचा था
जो मेरे लिए बोलता।

संदर्भ–सूचीः

1. 'ग्लोबल गाँव के देवता', रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण–2013, पृ. सं–32
2. वही, पृ.स.–72
3. वही, पृ.सं–13
4. वही, पृ.सं–84
5. 'किनकी सदी, किनकी सहस्त्राब्दी', एजाज अहमद, अनुवाद–मनोज झा, संवाद प्रकाशन, मुंबई, फ़रवरी 2008, पृ.सं–86
6. 'भूमंडलीकरण से भिड़ती कुछ कथाएँ', लमही, वर्ष–6, अंक–3, जनवरी–मार्च 2014, पृ.स.–13

सहायक प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्य प्रदेश
ई–मेलः amarrgu@gmail.com
मो0: 09424433001

असुर समुदाय का जीवंत दस्तावेज : ग्लोबल गाँव के देवता

मनोज कुमार

देश की शासन सत्ता चलाने वाले राजनेता व पूंजीपतियों से आज का आदिवासी समाज अपने समाप्त होने की आशंका में डूबा हुआ है। जब से सरकार और कम्पनियों की नजर आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन पर पड़ी है। तब से सरकार विकास के नाम पर उनकी जमीनों को पूंजीपतियों के हाथों में बेच रहें हैं। आदिवासियों को पैसों का लालच देकर जमीन के नीचे दबी खनिज सम्पदा को निकालकर मुनाफा कमा रही है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासियों पर होने वाली हिंसा, हत्या, शोषण, लूट, विस्थापन, गरीबी, भूखमरी का चित्रण किया गया है, वह कल्पना नहीं बल्कि यथार्थ है। उपन्यास में भौंरापाट, कन्दापाट के असुरों पर होने वाली हिंसा उन्हें समाप्त करने के लिए खड़ी है। असुर समाज सदियों से अंधविश्वास के साथ जीता आया है। उपन्यास के आरम्भ में ही असुर युवक का घायल होने के कारण उसका अंधविश्वास है कि 'धान को आदमी के खून में सानकर बिछड़ा डालने से फसल बहुत अच्छी होती है। इसलिए फसल के सीजन में मुड़कटवा लोग तेज कटार लिए अवसर के तलाश में रहते है, इसी का शिकार लालचन असुर हो जाता है।' रुमझुम कहता है कि ''हमारा बाक्साइट यहाँ से 100 मील दूर जहाँ प्रोसेस होकर अल्मुनियम में ढ़लता हैं वह जगह 'स्मार्टसिटी ऑफ इण्डिया' कहलाती है।''1

एक से बढ़कर एक स्कूल, कालोनियाँ, चमचमाते बाजार, क्लब घर, रंग बिरंगी गाड़ियाँ आदि यहाँ पाट में पानी और जलावन जुटाने में हमारी औरतों की आधी जिंदगी गुजर जाती है। बन्द खदानों के सैकड़ों गड्ढ़े विशाल पोखरों में बदल जाता है। कीचड़ में लोटते जानवर व बच्चों में फर्क करना मुश्किल हो जाता है। शिक्षा व्यवस्था में भी दोगलापन है। पढ़ने के नाम पर छलावा है। स्कूल के नाम पर आधी–अधूरी बिल्डिंग, जैसे–तैसे बना हॉस्टल, मुर्गीखाना जैसा शिक्षक आवास, शिक्षक का देर से आना, जल्दी जाना आम बात थी। स्कूल असुरों के सौ घरों को उजाड़कर बनाया गया लेकिन रजिस्टर को उठाकर देखा जाए तो तीन साल में एक भी आदिवासी परिवार के बच्चों को शिक्षित नहीं किया गया। स्कूल में मेधावी छात्र पढ़ रहे हैं आखिर शासक उन्हीं को बनाना है।

आदिवासी विकास के लिए तरस रहे हे।, सड़कों का हाल बहुत खस्ता है। आदिवासियों को जानवरों से भी बत्तर समझा जाता है। आज तक असुरों को विकास के नाम पर केवल कम्बल, मच्छरदानी, इन्दिरा आवास ही देखा गया है। ग्लोबल गाँव के देवता में असुर जाति को प्रकृति व सरकार दोनों की मार को सहना पड़ रहा है। आदिवासी वर्षों से अपनी अस्मिता और अस्तित्व को बचाने के लिए संघर्षरत है।

रणेन्द्र ने ग्लोबल गाँव के देवता में आदिवासी समुदाय असुर को केन्द्र में रखकर रचते हैं। असुर जनजाति को इस बात को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि इसने ही आग और धातु की खोज की, और उन्होंने न केवल खोज ही नहीं बल्कि धातु पिघला कर उसे आकार देने वाली कारीगर जाति भी यही है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' कल्पना के स्थान पर यथार्थ तथा मिथक के स्थान पर सत्य का स्वर देता है। रणेन्द्र ने पूरी प्रामाणिकता के साथ असुर जनजाति के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, वैशिष्टय को अपने इस उपन्यास में उकेरा है। प्रतिष्ठित मार्क्सवादी आलोचक मैनेजर पाण्डेय जी ने 'ग्लोबल के देवता' में कहा है कि ''आदिवासी समुदायों पर उपन्यास लिखते समय उपन्यासकार का एक काम आदिवासियों के जीवन के यथार्थ को समग्रता के साथ समझना है तो दूसरा काम उनके बारे में प्रचलित और प्रचारित मिथकों के प्रभाव से मुक्त होकर आदिवासियों के जीवन के इतिहास को व्यक्त करना है, रणेन्द्र ने दोनों काम किये हैं।''2

असुर शब्द सुनते ही जनमानस में जो भयानक खूंखार मायावी छवि उभरती है, वह भारतीय साहित्य में गढ़ी और प्रचलित कथाओं व धारणाओं की देन है। एक विज्ञान शिक्षक जिसे जंगलों के बीच पीटीजी गर्ल्स रेजीडेंशियल स्कूल में जनजाति की बच्चियों के लिए आवासीय विद्यालय में शिक्षक की नौकरी मिलती है। शिक्षक की भेंट गोरे–चिट्टे आदमी लालचन असुर से होती है। तब असुरों के रूप रंग संबंधी का खण्डन होता है।

लेखक ने असुरों के बारे में बड़े रोचक ढंग से बताते हैं कि– ''असुरों के बारे में मेरी धारणा थी, कि खूब लम्बे–चौड़े, काले–कलूटे भयानक, दाँत–वाँत निकले हुए, माथे पर सींग–वींग लगे हुए होंगे। लेकिन लालचन को देखकर सब उलट–पुलट हो रहा था।''3

'ग्लोबल गाँव के देवता' झारखण्ड के आदिवासी असुर समुदाय के अनवरत जीवन संघर्ष का दस्तावेज कह सकते हैं। वैदिक साहित्य से शुरू होकर,

रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराणों में निर्मित असुरों की यह छवि एक और उसके समुदाय और जीवन के दानवीकरण और दूसरी ओर उनके जीवन के यथार्थ के मिथकीकरण का परिणाम है। वैदिक काल में आर्यों ने असुरों को राक्षस, दैत्य, दानव कहा उपनिवेशकाल में अंग्रेजों ने असभ्य, अधार्मिक व जन्मना अपराधी घोषित किया, आजादी के बाद देश की वर्तमान सरकार नक्सलवादी, माओवादी कहकर उनका शोषण कर रही है।

रणेन्द्र ने 'ग्लोबल गाँव के देवता' में असुर समुदाय की ऐतिहासिक विकास में असुर आदिवासियों के मुख्यतः तीन भाग में बाँटे हैं– ''बीर असुर, अगरिया असुर और बिरिजिया असुर।'' वीर असुर का संबंध जंगल से, अगरिया का अंगिरा ऋषि से जोड़ा है। प्रतिष्ठित आलोचक रोहिनी अग्रवाल इस बिन्दु पर लिखती हैं– ''रणेन्द्र के पास जानकारियों का विपुल भंडार है। वे सौ पृष्ठों में फैले उपन्यास के संक्षिप्त कलेवर में विलुप्त जन जातियों का वृतान्त ठूँस देना चाहते हैं। एक मात्र असुर जनजाति के दमन की कथा ही नहीं, बल्कि विश्व स्तर पर विलुप्त कर दी गई। 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि वह किसी एक बिन्दु पर स्वयं केन्द्रित नहीं कर पाता। सब कुछ एक साथ मुट्ठी में भींच लेने की तपग्रता में सब कुछ रेत की तरह मुट्ठी से फिलसता चलता है।''4

''आदिवासी वर्षों से अपनी अस्मिता और अस्तित्व के बचाने के लिए संघर्षरत है, पर वह इस संघर्ष में अकेला है। उपन्यास की मूल चिन्ता है कि यहाँ नये देव (वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण अर्थात् पूंजीवाद के दौर में कम्पनियों के मालिक और देवों की भाँति असुरों का नाश करने वाले सरकारी अफसर, नेता और उनके नुमाइंदे की ताकत के आगे हर कोई नतमस्तक है। तंत्र की सारी मशीनरी कंपनियों के साथ है विरोध में कोई है तो आदिवासी, भूंखे–नंगे आदिवासी भी कब तक उनके सामने ठहर सकेगा? जबकि मीडिया सरकार के सुर में सुर मिलाकर प्रार्थना कर रहे हैं जै–जै ग्लोबल देव। तेरी शक्ति अपरम्पार वे असुर जो पौराणिक देवों के सामने हार भी अपना अस्तित्व बनाए रखने में सफल रहे थे, ग्लोबल के सामने बच पाना मुमकिन हो गया। ये ग्लोबल देवता असीम ताकत के धनी हैं। देश की हर संस्था इनके अनुसार चलने लगी है। ऐसे में कौन होते हैं ये असुर जो पहाड़ों और जंगलों पर अपना दावा करके जीवित रह सकते है।''5

आदिवासी समुदायों के शोषण एवं दमन की प्रक्रिया अपने चरम पर है विकास के नाम पर आदिवासी संस्कृति के नष्ट होने का सिलसिला नवउदारवादी

आर्थिक नीतियों के कारण तेज हुआ है।

आदिवासी अथक मेहनती और संस्कृतिक प्रेमी होते हैं। असुर जाति भी थकती नहीं। आग से उत्पन्न कभी लोहा पिघलाने और लोहा खाने वाले लोग खुद भी लोहा थे। केवल मक्का या कन्द खाकर लोग इतन खट सकते हैं, यह विश्वास नहीं होता देवराज इन्द्र से लेकर ग्लोबल गाँव के व्यापारियों तक फैली शोषण की प्रक्रिया को लेखक ने उजागर किया है। लेखक ने उपन्यास की केन्द्रीय समस्या में असुर आदिवासी संघर्ष है जो न केवल बहुराष्ट्रीय कंपनियों जैसे ताकतों से है जिनके साथ देश की राष्ट्रीय सरकार भी है। उपन्यास में पूरा असुर समाज ही नायक की तरह चित्रित वर्णित है। ढेर सारे पात्रों में लालचन, बालचन और रूमझुम है तो महिला पात्रों में एतवारी और ललिता पाठक की चेतना को झिंझोड़ते से लगते हैं।

असुर समाज में औरत की कमजोरी का नहीं समझदारी का प्रतीक माना गया है 'असुरों' में आजाद औरत की लंबी परंपरा अमेरिका से भारत में प्रवेश करती हुई मानी जा रही है। लोगों को पता नहीं है कि आदिवासियों में यह परंपरा शुरू से रही। जब कभी विवाह में देरी या अड़चन आ जाती है तब लड़का लड़की साथ–साथ रहना शुरू कर देते हैं। लेकिन बेटा–बेटी की शादी से पहले शादी के रस्म निभानी पड़ती है। कभी–कभी एक ही मड़वे में माँ–बाप शादी करतें। 6

ग्लोबल गाँव के देवताओं में जंगल पहाड़ तक पहुंचने और आदिवासियों के जीने–मरने व संघर्ष की कहानी को इस उपन्यास में बड़े खूबसूरती से व्यक्त किया गया है। आदिवासियों को प्रकृति से बहुत प्रेम रहा है। तभी उपन्यास का पात्र ललिता कहती है–''हम प्रकृति के पूजक हैं। हमारे महादेव यह पहाड़ है। यह पाट है जो हमें पालता है। हमारी सरना माई न केवल सखुआ गाछ में बल्कि सारी वनस्पतियों में समायी हैं। हम सारे जीवों से अपने गोत्र को जोड़ते हैं। छोटे–जीवों कीट–पतंगों को भी अपने से अलग नहीं समझते। हमारे यहाँ अन्य की आवश्यकता ही नहीं है।''7

लेखक ने इस उपन्यास में असुर समुदाय के जनजीवन में सकारात्मक पक्षों को उभारा है। असुर आदिवासियों की संघर्ष चेतना हो, उनकी स्त्रियों की सृजनात्मकता हो अथवा उनकी लोक कलाएँ, उपन्यासकार ने सभी समग्रता से चित्रित किया है। असुरों के संघर्ष की कहानी खूबसूरती से व्यक्त हुई है। ग्लोबलाइजेशन के दौर में कई संस्थानों के चेहरे से नकाब उतरता रहा है।

लोकतांत्रिक सरकारें व लोकतंत्र के चौथे स्तंभ का दावा करने वाले पत्रकार जमीनी सच्चाई से कोसों दिखाई देते हैं। शोषण और लूटपाट के खिलाफ आवाज उठाने वाले आदिवासियों को नक्सली घोषित कर मार दिया जाता है।

ग्लोबल गाँव के देवता में लेखक असुर समुदाय का जीवन संघर्ष, अस्मिता अधिकार को उजागर किया है। असुर समाज का रहन–सहन, खान–पान भेद–भाव एवं देवी–देवताओं को यथार्थ चित्रण करते हैं। वास्तव में असुर समुदाय में आज भी अंधविश्वास भरा हुआ है। उनकी बहुत ही दयनीय स्थिति है तथा उनका भारतीय समाज में शोषण जारी है। सत्ताधारी वर्ग, नेता, ठेकेदार, दबंगों, कम्पनियाँ भी शोषण करने से नही चूकते हैं।

असुर आदिवासी धीरे–धीरे मिलते–सिमटते कम होते जा रहे हैं दबंगों, दलालों, पुलिस, वन विभाग, नेताओं और सरकार ने उनको मिटाने का काम किया है।

संदर्भ ग्रन्थ सूचीः

1. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, पृष्ठ सं. 16, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं. 2013
2. सं. रवीन्द्र कालिया, नया ज्ञानोदय, पृ. 13, अंक 85, मार्च 2010
4. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, पृष्ठ सं. 16, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं. 2013
5. डॉ. जनक सिंह मीणा, अरावली उद्घोष, पृष्ठ सं. 62, प्रकाशन चित्रकूट, गाँधीपथ जयपुर
6. रमेशचन्द्र मीणा, आदिवासी दस्तक, पृष्ठ सं. 104, अलख प्रकाशन, जयपुर, प्र.सं. 2013
7. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, पृष्ठ सं. 72, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं. 2013

शोधार्थी

हिन्दी विभाग डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र.

मो0: 09165754931

Email: km748860@gmail.com

'आक्रोश' उपन्यास में आदिवासी जीवन संघर्ष

डॉ.स्नेहलता

आदिवासी समाज का इतिहास संघर्षो की गाथाओ से भरा पड़ा हैं। आज भी उनका संघर्ष ज्यो का त्यों दिखाई देता हैं, संदर्भ जरुर बदल गए हैं। आदिवासिओं के जीवन संघर्ष और अस्तित्व की बात करे तो विश्व में फैले सभी आदिवासी दिखाई देने लगते हैं जो अपने अस्तित्व एवं अस्मिता के लिए आज भी संघर्षरत हैं। आज उन्हें मुख्यधारा में आने के लिए अपनी अस्मिता, परंपरा, अस्तित्व को त्यागना होगा तभी वे मुख्यधारा की वर्चस्ववादी संस्कृति को अपना सकते हैं। यानी उन्हें अपने मूल से हटना होगा, अपने अस्तित्व को मिटाना होगा। पेरू के माची, झारखण्ड के बिरहोर, शबर, कोरबा, असुर या राजेस्थान के सहरिया आदिवासी जनजातियों की संख्या लगातार कम होती जा रही हैं। इनकी मूल समस्या विस्थापन की हैं। वैश्वीकरण के इस दौर में आदिवासी नुमाइश का एक हिस्सा बन कर रह गये हैं। अंडमान और निकोबार द्वीप समूह के 'जारवा' और 'आंजे' समुदाय के आदिवासियों को चिड़ियाघरों में बांध कर नुमाइश एवं विस्मय की वस्तु बना दी गई हैं। उनको केले, बिस्किट देकर जन्तुओ में मिला दिया गया हैं। विकास और बाजार के नाम पर आदिवासियो के इतिहास को ख़त्म किया जा रहा हैं इनके संसाधनों को आर्थिक एवं राजनैतिक ताकतों से खुली लुट कर रहे हैं। इस लुट का प्रतिरोध हमेशा से बुद्धिजीवी एवं इतिहासकारों ने समय–समय पर किया हैं जिसे 'हुल' या 'उलगुलान' कहा जाता हैं। 'उलगुलान' यानि फीनिक्स पक्षी की तरह अपनी राख में से खड़ा होना।

आदिवासीयों ने अस्तित्व, आत्मसम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए बहुत संघर्ष किया हैं। ये अनवरत जीवन संघर्ष का दस्तावेज हैं। वैदिक काल से ही अपनी पहचान की लड़ाई इस सभ्यता ने शुरू की वह आज तक यूहीं जारी हैं। सत्ता और समृद्धी ने हमेशा ही इन्हें दो कदम पीछे धकेला हैं। यह समाज अपनी साधनहीनता और दरिद्रता के कारण लगातार पिछड़ता ही नहीं गया बल्कि रोज किसी न किसी मुसीबत का सामना करता चला गया। जब इन्होने अपनी पहचान की खातिर भूमि और वन्य सम्पदा सुनियोजित रूप से बर्बाद करने वाली नीतियों संस्कृति पूंजीवाद, भूमंडलीकरण का विरोध किया, जब से आदिवासीओं की

संस्कृति, जीवनशैली खतरे में पड़ गई हैं। आज भी वे अपनी आत्मरक्षा के लिए अपने अस्तित्व के लिए निरंतर संघर्ष कर रहे हैं और शायद नहीं, यक़ीनन आगे भी संघर्ष करते रहेंगे। क्योंकि आदिवासी हमेशा से वेदनाओ में जीते आए हैं फिर भी वे कभी हार नहीं मानते अपने जीवन को जीने के लिए लगातार संघर्षशील ही रहे हैं।

इसी संघर्ष को आदिवासी उपन्यास 'आक्रोश' उद्‌घाटित करता हैं। प्रस्तुत अनूदित उपन्यास 'आक्रोश' मूल मराठी 'टाहो' बाबाराव मडावी की कृति हैं। 'तोंडाकुर लक्ष्मण पोतन्ना ने हिंदी में इस उपन्यास का अनुवाद किया। "यह एक सशक्त आदिवासी उपन्यास हैं। इस उपन्यास में मुख्यधारा का समाज कैसे आदिवासियों को अंधविश्वास, अशिक्षा, अज्ञानता, के कारण अपना गुलाम, बंधुआ मजदूर बनाकर रखता हैं, साथ ही संघर्षशील युवा शिक्षित पीढ़ी इन समस्याओं से इनको बाहर निकालने को तत्पर हैं।'' (आक्रोश– आशीर्वचन पृ.से)

इस कृति में लेखक ने आदिवासियों की समस्या, गरीबी, भूख, जंगल–पहाड़ों में जीवन बिताने वाले, मेहनत–मजदूरी करने वाले लोगों के संघर्ष का चित्रण किया हैं। इसका पात्र भीम्या एक जागरूक पढा लिखा लड़का हैं जो बम्बई से पढ़ लिख कर अपने गाँव डोंगर में आता हैं। जब वह अपने गाँव वापस आता हैं तो उसे जंगल में भयावह परिस्थिति नज़र आती हैं। इन परिस्थितियों का सामना करते हुए वह अपने गाँव के लोगों को जागृत करता हैं। "भीम्या डोंगर गाँव आने से वहाँ के लोग जागृत होते हैं और हक़ की चिनगारी फूट पड़ती हैं, महासंग्राम भी शुरू होता हैं। नंगे भूखे पेट लोग हक़ की लड़ाई लड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस लोकतांत्रिक युग में संविधान के पन्नों पर अपना नाम लिखने के लिए जाग जाते हैं। हम भी मानव हैं, इस धरती पर हमारा भी हक़ हैं।" (आक्रोशः लेखक के दो शब्द पृ. से)

विद्रोह से वे स्वयं की पहचान, स्वयं की आवाज और स्वयं की मुक्ति, अभिव्यक्ति और संघर्ष को पूरे भारतीय समाज के सामने लाना चाहते हैं। भारतीय समाज का सच और उसके मर्म को सामने लाना चाहते हैं। इस उपन्यास में अन्याय अत्याचार मिटाने का आक्रोश हैं। प्यारेलाल सेठ शहर से जंगल में आकर गाँव वालो का भरोसा जीतता हैं इन्हें भूमिहीन बनाता हैं फिर धीरे–धीरे उन्हें अपने षड्यन्त्र के चुंगुल में फंसाता हैं। ब्याज देकर इनकी जमीन हड़प लेता हैं और इन्हीं की जमीन पर इन्हीं को मजदूर बनाकर आजीवन गुलाम बना लेता हैं, भोले भाले लोगों का फायदा उठा रहा था।" डोंगर गाँव के सभी आदिवासी प्यारेलाल सेठ के

खेत में कुदाल, फावड़ा लेकर मजदूर जानवरों जैसा काम कर रहे थे। वे अपनी ही जमीन पर मजदूर बन गए थे, इसका फ़ायदा प्यारेलाल उठा रहा था।" (प30)

अपने साथीयों से मिल कर जंगल के पेड़ों को कटवाता हैं अपने घर की सजावट के लिए सागवान की लकड़ियों का प्रयोग करता हैं। डोंगर गाँव के आदिवासी अपने जंगल से बहुत प्यार करते हैं ये लोग जंगल के पेड़ो को अपने बच्चों जैसा और भगवान मानते हैं और पेड़ कटते समय बहुत रोते हैं, बहुत पश्चाताप करते हैं, परिवार के साथ पेड़ को काटने से पहले माफ़ी मांगते हुए कहते हैं– ''हे! निःसर्ग देवता आपकी जिंदगी बर्बाद करने का हमें कोई अधिकार नहीं हैं। आपही की खातिर हमें दो जून की रोटी मिलती हैं... छाया मिलती हैं... बारिश होती हैं... जीवन सुखमय होता हैं... फिर भी हम आपको तोड़ रहे हैं... हे वृक्ष देवता! हम आपसे एक वादा करते हैं कि आपको काटने से पहले एक पेड़ लगायेंगे, उसे बड़ा करेंगे। (पृ.15)

एक बार जंगल में डाकू पेड़ो को काटने आ जाते हैं। कुल्हाडियो की आवाज आदिवासियों के कानो में गूंजने लगती हैं। राघोबा जोर से चिल्लाता हैं– जागो, जंगल में डाकू आये हैं, अपने देवता को मार रहे है... वह झल्लाता है– गोरों की औलाद, सपाट पैरो के, हमे बर्बाद करने आये हो। राघोबा की पत्नी कोंडीबाई रोते हुए कहती हैं– ''अरे फितरो! क्या किया तुम्हारा इन पेड़ो ने क्यों तोड़ रहे हो इन पेड़ो की हराम की लकड़ी चाहिए तुमको? अपने बीवी बच्चों को काट कर खा जाओं, हमारे जंगल के पीछे क्यों पड़े हो.. अरे गाँव वालो चलो इन्हें कच्चा भुनकर खायेंगे।" (पृ.15)

इन लोगो में अपने जंगल के प्रति एक अलग सी सद्भावना होती हैं। जंगल को ख़त्म होते देख इनकी आत्मा तड़प उठती है, ये बेचैन होने लगते हैं इसकी रक्षा के लिए। पर भारतीय वन रक्षा कानून ने ऐसे कड़े नियम बनाये हैं की इन लोगो का जीवन दोहरे थपेड़ो को झेल रहा हैं एक तो जल, जमीन, जंगल से इन्हें खदेड़ रहे हैं दुसरे इन्हीं पर सारे कानून लगाये जा रहे हैं। यहाँ तक की सरकार बांध बनाने के लिए इन्हीं की जमीन से इन्हें बेदखल कर रही हैं। "देश तो स्वतंत्र था, लेकिन यहाँ का मनुष्य मात्र समस्याओं से ग्रस्त था। पानी के बांध तो सरकार तैयार कर रही थी, आदिवासियों के जंगलों में भी बांध बनाये जा रहे थे। इनके घर जमीन जाने लगे थे। विकास का मतलब उन्हें विस्थापित करना था बांध का पानी उनके लिए न होकर जमीन, सेठ, साहूकारों के खेतों में जाने के लिए था।"

(पु.71) आदिवासियो को विस्थापन करना पड़ा। इन्हें रहने के लिए ऐसी जगह दी जाती हैं जो पूरी तरह से बंजर होती हैं जहाँ न ये सही ढंग से खेती कर सकते हैं न पानी की कोई खास सुविधा हैं और न ही भूख से कुपोषण से मरने वाले इनके बच्चों को दफ़नाने के लिए, बंजर जमीन में गड्ढा भी जल्दी नहीं हो रहा था। गड्ढा खोदते समय पत्थर पर सब्बल लग कर छन से ऊपर उड़ने लगी थी माँ–बाप का पसीना उस गड्ढे में गिर रहा था। उनके जीवन का अँधेरा दूर होने की बजाय बढ़ता ही जा रहा था।" (पृ.74) मानवता के लिए जान देनेवाली यह जंगली–संस्कृति आज रो रही थी। (पृ.73)

विकास के नाम पर सरकार कब्ज़ा कर रही थी, भूमंडलीकरण के नाम पर बड़ी कम्पनियाँ जंगल में प्रवेश करने लगी थी, आदिवासियों को लुटने के षड्यंत्र व्यापारियों ने शुरू कर दिए थे, कारखानों की भीड़ बढ़ रही थी, जागृति के नाम पर आदिवासियों को विस्थापित कर रहे थे, पीढियों से चली आ रही संस्कृति का विनाश हो रहा था, महंगाई और भ्रष्टाचार दिन–ब–दिन बढ़ते जा रहे थे। इन सभी परेशानियों के बीच भोला–भाला आदिवासी पिस रहा था। भूख, कुपोषण, टी.बी. की बीमारी से बड़े–बूढ़े, बच्चे मरने लगे थे। जो आदिवासी राजा था, स्वतंत्र, खुशहाल, हष्ट–पुष्ट था, वह बीमार, कमजोर, निसाह्य, पंजर, गुलाम दिखने लगा था। अपने ही जंगल, पुलिस और नक्सलिवादियों का शिकार हो रहा था। बच्चे हर दिन कुपोषण के कारण मर रहे थे, इनकी सभ्यता, संस्कृति, प्यार, प्रेम, मेल–मिलाप, भोलापन, सद्भावना सब के सब समाप्त हो रहे थे। डोंगर गाँव की परिस्थिति दिन–ब–दिन बढ़ रही थी, "आदिवासी अपनी मिट्टी के लिए तड़प रहे हैं हाल–बेहाल हो रहा हैं। पेट भरने के लिए एक दाना तक नहीं हैं।" (पृ.83)

भीम्या इस गाँव का पढ़ा–लिखा लड़का जो वकील हैं, सारे नियम कानून जानता हैं। वह इस गाँव में चेतना फैलता हैं जागृति का मार्ग दिखता हैं। वह इस गाँव की परिस्थितियों को हटाने का हर संभव प्रयास करता हैं। भीम्या सब लोगो को समझाता हैं– "देश की संसद, कानून, प्रजातंत्र सब कुछ अपना हैं। अब हमें इस अन्याय, अत्याचार, शोषण को मिटाना हैं। इस जंगल के एक भी मनुष्य को मैं भूखे मरने नहीं दूंगा। हमे हमारे हक़ की लड़ाई लड़नी हैं। हमे इस लड़ाई को विस्तार देना हैं, संविधान के लोकतंत्र को अपनाना हैं। मैं इन नंगे बदनवाले आदिवासियों के साथ मोर्चा निकाल कर उन्हें संविधान का पाठ पढ़ाऊँगा। भीम्या डोंगर गाँव से संसद पर मोर्चा लाने का निर्णय लेता हैं।" (पृ.83)

सारे डोंगरवासी बड़े–बूढ़े, बच्चे–जवान सारी औरते अपने बच्चों के साथ संसद पर पहुँच जाते हैं और अपनी साधनहीनता समस्याओं का निदान मांगते हैं। "अपनी खोई हुई स्वाधीनता के भूखे आदिवासी जोर–जोर से घोषणाएँ देने लगे। भीम्या कहता हैं– "हम लोग इस देश को जगाने आये हैं ।" (पृ.86) संसद इनकी विनती सुन लेती हैं और इन लोगों की समस्याओं का परिष्कार करने की सोचती हैं।

उपन्यासकार ने इस उपन्यास में आदिवासियों की हर उस समस्याओं को उद्‌घाटित किया हैं जो सदियों से बनी हुई हैं। उनका संघर्ष, साधनहीनता, विस्थापन की मज़बूरी, भूख, आजाद होने की छटपटाहट, नीरस भरा जीवन, भोले–भले आदिवासियों को लुटते–खदेड़ते सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, कारणों की खोज की हैं। साथ ही उनके सामाजिक नियम कानून की कटरता, अंधविश्वास, सामाजिक विषमताओं को चित्रित किया हैं। जिसके कारण निर्दोष, अमुक लोगों को बिना गुनाह किए सजा भुगतनी पड़ती हैं। इसकी एक पात्र मैना भी सामाजिक विषमता की शिकार होती हैं। धोखे से प्रेम–जाल में फंस कर गाँव से बहिष्कृत होती हैं। वही पारू शहरी दरिन्दे प्यारेलाल सेठ की बदले की भूख का शिकार होती हैं। उपन्यासकार ने हर उस आदिवासी की दस्तां लिखी हैं जो समाज, देश, सरकार के थपेड़ो को, उनके शोषण को सहता आ रहा हैं। भीम्या जैसें पात्र का गठन कर के एक नई चेतना को विकसित किया हैं। ये चेतना हर उस आदिवासी के लिए हैं जो आज भी अपनी आज़ादी के लिए संघर्ष कर रहा हैं।

सन्दर्भ :

आक्रोश – आदिवादी उपन्यास

लेखक – बाबाराव मडावी

अन्नुवादक – तोंडाकुर लक्षमण पोतन्ना

गेस्ट फैकल्टी

युनिवर्सिटी ऑफ़ हैदराबाद

मो0: 9393777703

समकालीन हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन

सुमित कुमार मीना

समकालीन संबंध समसामयिकता से हैं वही रचना समकालीन कही जाएगी, जो अपने समय के समाज की विभिन्न परिस्थितियों को व्यक्त करे। परिवर्तनशील सामाजिक यथार्थ को अपने रचनाकर्म के माध्यम से व्यक्त करने वाला रचनाकार ही समकालीन कहा जाता है। समकालीन रचनाकार स्वयं को समसामयिक वस्तुस्थिति की स्वीकृति तक सीमित नहीं रखता, बल्कि वह सामाजिक विषमताओं की आलोचनात्मक दृष्टि से जाँच–पड़ताल करके सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने का भी प्रयास करता है। ऐसा ही प्रयास हिंदी साहित्य के समकालीन कथा साहित्य में हम आदिवासी विमर्श में देख सकते हैं। जनजातियाँ विश्व के लगभग सभी भागों में पायी जाती हैं। भारत अफ्रीका के बाद सर्वाधिक जनजातियों वाला देश हैं। यहाँ भील, कोल, किरात, गरासिया, सहरिया, डामोर, गोंड़, संथाल, मीणा–मीना, मुंडा, आदि जनजातियाँ विभिन्न राज्यों के जंगली एवं पहाड़ी क्षेत्रों में अपना जीवन यापन करते हैं। 'आदिवासी' शब्द से तात्पर्य है, आदिवासी, वनवासी या जंगली , आदिम भी कहते हैं। भारतीय संविधान में इन्हें 'अनुसूचित जनजाति' नाम से संबोधित किया गया है। पहाड़ियों, जंगलो तथा दुर्गम प्रदेशों के निवासी होने के कारण उन्हें सारा जीवन गरीबी में ही जीना पड़ता है। आदिवासियों में एक ओर चेतना जाग्रति आ रही है, तो दूसरी ओर उनकी समस्याएँ दिन–प्रति–दिन जटिल हो रही है। आजादी के बाद देश के राजनेताओं एवं उच्चवर्ग के लोगों ने पश्चिमीकरण एवं आधुनिकता का चोला पहनकर राष्ट्र में विभिन्न विकास योजनाओं का निर्माण करके, आदिवासियों के मूलनिवास स्थान पहाड़ी एवं जंगली क्षेत्रों में क्रियान्वित किया गया। यहाँ से शुरू होती है, आदिवासियों के विस्थापन की कहानी। यह विस्थापन प्राकृतिक विस्थापन से भी अधिक खतरनाक साबित हुआ क्योकिं प्राकृतिक आपदा के बाद उस स्थान पर वापिस से विकास किया जा सकता हैं। लेकिन इस विस्थापन ने हमेशा–हमेशा के लिए विस्थापित कर दिया हैं।

विकास के नाम पर आदिवासियों को उनकी परंपरा, संस्कृति, मूलनिवास स्थान से खदेड़ कर उनको समाज के हाशिए पर डाल दिया जाता हैं। विस्थापन

की समस्या के साथ–साथ आदिवासियों की परम्परा, संस्कृति, भाषा, वेशभूषा, राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका योगदान आदि विशेषताओं को समकालीन हिंदी के गैरआदिवासी एवं आदिवासी रचनाकारों ने अपने कथासाहित्य के लिय प्रमुख विषयवस्तु के रूप में चित्रित करके समाज के मुख्यधारा में आदिवासियों की अस्मिता को स्थापित करने का प्रयास किया हैं, जो आदिवासी हिंदी उपन्यास साहित्य की वर्तमान प्रदेयता के साथ–साथ भविष्य की संकल्पना को भी संकेतित करती हैं। आज के भूमंडलीकरण एवं विश्वग्राम के दौर में भी आदिवासी किसी तरह सदियों पुराना जीवन जीने को विवश और अपने हक की लड़ाई लड़ रहे हैं, उनकी प्रमुख समस्यायें क्या हैं, अदि तथ्यों को चित्रित करने वाले उपन्यास प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं।

सबसे पहले हिन्दी साहित्य में आदिवासियों की समस्याओं को देवेंद्र सत्यार्थी ने 'रथ के पहिए' उपन्यास में चित्रित किया हैं। यह उपन्यास आदिवासी समाज एवं उनकी विस्थापन की समस्या को समाज के सामने रखता है। इसके बाद 1954 में आंचलिक उपन्यास के रूप में प्रकाशित होने वाला फणीशवरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' से हिंदी में एक नई उपन्यास पम्परा की शुरुआत होती हैं। 'मैला आँचल' वैसे तो आंचलिक उपन्यास के रूप में प्रसिद्ध है लेकिन इसमें संथाल आदिवासी समाज की समस्याओं को चित्रित किया गया हैं। संथालो को अपने जमीनी हक से बेदखल कर दिया जाता हैं। संथाल अपने सत्व के लिए लड़ते–भिड़ते हैं तो जुल्म के शिकार होते हैं। रेणु पीडतों के साथ हैं। 'मेरा घर' उपन्यास में गाड़िया लुहारों के खानाबदोश जीवन को चित्रित करता है। आजादी के बाद हमारा कथा–साहित्य तब अधिकतर शहरी मध्यवर्ग पर केन्द्रित था, वह व्यक्ति के अकेलेपन, सम्बन्धों में टूटन और महानगरीय संत्रास आदि में उलझा था। लेकिन इसी समय हिंदी के कई कथाकारों ने समाज के हाशिए पर जीवन यापन करने वाले आदिवासियों के सामाजिक संरचना को अपने लेखन के लिए प्रमुख विषयवस्तु के रूप में लेकर आदिवासियों की समस्याओं की तरफ समाज का ध्यान खींचा। रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' (1958) उपन्यास में राजस्थान के ब्रज प्रदेश की सीमा पर स्थित बैर क्षेत्र के नट आदिवासियों के सामजिक–सांस्कृतिक परिवेश को यथार्थ के साथ चित्रित किया है। रांगेय राघव का 'धरती', राजेंद्र अवस्थी का 'जंगल के फूल' (1960) तथा 'सूरज किरण की छाँव' इस समय के महत्वपूर्ण उपन्यास हैं।

बीसवीं सदी के नवम दशक में आदिवासी जीवन पर लिखे गए उपन्यासों

का एक नया दौर शुरू होता है। यहाँ आकर कथाकार नई संवेदना, विचार–विमर्श के साथ आदिवासी समाज के जीवन को गहराई से छानबीन करता हुआ दिखाई देता है। इसकी शुरुआत मणि मधुकर का उपन्यास 'पिंजरे में पन्ना' से होती है। इसमें राजस्थान के रेगिस्तान क्षेत्र में यायावर जीवन जीने वाले गाड़िया लुहारों के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश का गहराई से जीवंत चित्रण किया है। हिमांशु जोशी का 'अँधेरा और' उपन्यास में थारू आदिवासियों के जीवन संघर्ष का नग्न यथार्थ देखने को मिलता है। इसमें आदिवासियों का पुलिस–जमींदारों द्वारा किया जानेवाला शोषण चित्रित हुआ है। शोषण के केंद्र में नारी है। पुलिस–जमींदारो के खिलाफ संघर्ष करने वाला पात्र परसिया सशक्त, प्रतिरोधी, विद्रोही एवं जीवंत पात्र बनकर समाज के सामने आता है जो शोषित समाज के लिए एक प्रेरणा बन जाता है। शिवप्रसाद सिंह के 'शैलूष' (1989) उपन्यास में मिर्जापुर–विंध्याचल क्षेत्र में जीवनयापन करने वाली खानाबदोश आदिवासी नट जाति के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश के साथ–साथ उनके जीवन संघर्ष का चित्रण किया गया है।

समकालीन हिंदी कथा साहित्य में 'संजीव' का नाम अग्रणीय पंक्ति में आता है। संजीव ने अपने साहित्य में किसी ग्रामीण, अंचल विशेष के आदिवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं उनके जीवन संघर्ष को उनकी ही ग्रामीण, देशज भाषा में चित्रित किया है। जो पाठको को झकझोर देती है। संजीव के उपन्यास 'पांव तले दूब' के केंद्र में झारखंड का पंचपहाड़ अंचल के आदिवासियों के अस्तित्व, अस्मिता के इर्द–गिर्द विकसित और गुंफित हुई एक बेबाक कथा है। इस उपन्यास में औद्योगिकीकरण के कारण विस्थापन की समस्या है। उपन्यास का शीर्षक ही आदिवासियों की स्थिति को स्पष्ट कर देता है। शीर्षक यह संकेत करता है की पांव तले के दूब जिसे हम बिल्कुल सहजता और बिना किसी संकोच से कुचलते हुए चले जाते है और इस कुचलने का कोई अपराध भी नहीं होता है। संकट तब खड़ा होता है। जब कभी यह दूब हमारे पांवो को चुभ जाती है और हमारे मुलायम चेहरे पर उभरे विचलन के साथ ही उसके होने का भी हमें अहसास हो जाता है। इसका प्रतीकार्थ अर्थ यह संकेत करता है की देश में विभिन्न प्रकार की विकास योजनओं के द्वारा आदिवासियों को उनकी जन्मभूमि, कर्मभूमि से दरकिनार किया जाता है। तथाकथित समाज के लोगों को जरा भी अपराधबोध का अहसास नहीं होता है, लेकिन जब आदिवासी समाज के लोगों के धैर्य का सब्र टूट जाता है। तब वह अपनी अस्मिता को बचाने के लिए उग्र रूप धारण करके सरकारी योजनाओं एवं सभ्य कहे जाने वाले समाज का विद्रोह करते है, सभ्य समाज के लोगों के मुलायम

चेहरे पर दुब के नुकीली नोक की तरह चुबते हुए अहसास करते है। संजीव के 'धार' एवं 'सावधान नीचे आग है' उपन्यासों में एक नई भूमि की तलाश है। 'सावधान नीचे आग है' में कोयला अंचल में मजदूरी करने वाले आदिवसियों का जीवनसंघर्ष यथार्थ के रूप में हमारे सामने आता है। इसमें पाठको के सामने एक साथ लेखक कई प्रश्न उपस्थित करता है और 'धार' में उन प्रश्नों का समाधान करता हुआ दिखाई देता है। वीरेंदर जैन के 'पार' उपन्यास में विस्थापन की समस्या से संघर्ष करती हुई राउत जनजाति का जीवनसंघर्ष का चित्रण उपन्यासकार ने बेखुबी से किया है। मैत्रीयी पुष्पा ने 'अल्मा कबूतरी' (2000) में प्रकाशित उपन्यास में बुंदेलखंड की कबूतरा आदिवासियों के जीवन त्रासदी का चित्रण किया है। लेखिका ने आदिवासी समाज के अन्तर्विरोध, जीवनसंघर्ष और विस्थापन की गहरी समस्या को उठाया है। संघर्ष ही इनका प्राणतत्व बन गया है। वे हार को भी स्वीकार नहीं करते है।

तेजिन्दर का 'काला पादरी' (2000) उपन्यास में दो संस्कृतियों की टकराहट से पैदा होने वाली जटिलताओं का खूबसूरत चित्रण हुआ है। इस उपन्यास के केंद्र में धर्मांतरण है और प्रमुख आदिवासी पात्र अपने परम्परागत धर्म को छोड़कर ईसाई बन जाता है। धर्मांतरण के जरिए सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करना नहीं है। इसका लक्ष्य उन लोगों को अपने धर्म के अंतर्गत लाना है। उपन्यास का अंत अम्बिकापुर से तबादला होकर नागपुर जाते आदित्य को जेम्स खाखा और सोजेलिन मिंज द्वारा स्टेशन पर विदाई के इन सकारात्मक शब्दों में हुआ है, "जेम्स खाखा है और सोजेलिन मिंज मुझे आस–पास पहाडियों पर चढ़ते हुए दिखाई दे रहे थे।"1

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' का केन्द्र पात्र हारिल जैसे उन सैकड़ों युवाओं को श्रद्धाजंलि देता है जिनका नाम इतिहास के पन्नों पर दर्ज नहीं है। निसंदेह यह उपन्यास सिदो–कान्हों द्वारा संथाल हूल को आधार बना कर लिखा गया उपन्यास है। आदिवासियों की पहचान उनके जल, जंगल और जमीन से जुड़ी हुई है। अंग्रेजों के आगमन से संथाल आदिवासियों का राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन किस प्रकार प्रभावित होता है और किन–किन समस्याओं से जूझता हुआ और अपने जीवन से संघर्ष करता हुआ आदिवासी समाज जीवन व्यतीत करता है, इस स्थिति को हारिल मुरमू तथा अन्य पात्रों के माध्यम से देखा जा सकता है। जो केवल संथाल ही नहीं बल्कि झारखंड के उन समस्त आदिवासियों का नेतृत्व करता है जिससे आदिवासी

समुदाय आज भी जूझ रहा है। इस उपन्यास का मुख्य पात्र हारिल मुरमु एक कृषक संथाल आदिवासी है जिसके पास गर्व करने लायक खेत है। ''अपने खेत में ऐसी लहराती फसल उगाने या खेत की माटी को जगाने के निमित्त हारिल मुरमू ने किया ही क्या था? भेड़वा नदी से पानी को भर–भर पटाया ही भर था। हारिल मुरमू के पुरखों ने तो इस माटी पर अपना ढेरों रक्त बहाया था। बरसों बरस पठारी भूमि के इस कंकरीले टुकड़े पर सड़े–पत्तों और खूब सारी बकरी की लेड़ियों की खाद बिखेरी थी। भेड़वा नदी से पोखरा भर पानी ढोकर पिलाया था तब कहीं जागी थी यह धरती।''2

इस उपन्यास में बंधुआ मजदूरी की समस्या को भी देखा जा सकता है। जादिक मुरमू और बाघामुण्डी के कई संथाल आदिवासी गोमके के घर बैठ–बेगारी करते है। एक बार यदि कोई आदिवासी कर्ज लेता था तो वह उस कर्ज से मुक्त नहीं हो पाता था और पीढ़ी दर पीढ़ी यह बैठ–बेगारी चलती रहती है। अंग्रेजों के हस्तक्षेप से कम्पनी सरकार ने खूंटकट्टी और झूम खेती पर प्रतिबंध लगा दिया इससे पहले आदिवासियों की खेती करने की अपनी स्वतंत्र व्यवस्था थी। ''स्थायी बंदोबस्त के साथ कंपनी सरकार ने जंगल के साथ आदिवासियों के संबंध को भी बदल डाला था। जंगल की भूमि और वनोपज ही नहीं गांव की गैरमजरूआ भूमि के उपयोग पर भी प्रतिबंध लगा दिया था। कम्पनी सरकार की नयी व्यवस्था मुद्रा निवेश, संचय तथा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व पर आधारित व्यवस्था थी। औपनिवेशिक मुद्रा पर आधारित व्यवस्था थी।''3

रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' में झारखंड के असुरों की संघर्ष गाथा का बहुत स्पष्ट और निर्मम चित्र खिंचा है। रणेन्द्र ने 'असुर जनजाति' के संघर्ष की समकालीनता को कायम रखते हुए उस सांस्कृतिक इतिहास की भी पड़ताल की है जिसने उसे असुर नाम दिया। लेखक शुरू में ही कहता है, ''अब जाकर ध्यान आया कि एतवारी में इस सुदर्शन व्यक्ति का नाम लालचन्द असुर बताया था। सुना तो था कि यह इलाका असुरों का है, किन्तु असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लम्बे, चौड़े, काले–कलूटे, भयानक दांत–वांत निकले हुए, माथे पर सींग–वींग लगे हुए होंगे। लेकिन लालचन्द को देखकर सब उलट–पुलट हो रहा था। बचपन की सारी कहानियाँ उल्टी घूम रही थीं।''4

हरिराम मीणा ने राजस्थान के बांसवाडा अंचल में निवास करने वाली भील एवं मीणा जनजाति को केंद्र में रखकर 'धूणी तपे तीर' उपन्यास की रचना की है।

इस उपन्यास में राष्ट्रीय आन्दोलन में आदिवासियों के योगदान को हमारे सामने रखा है। जिसको इससे पहले हम इतिहास की किताबों में मात्र दो पंक्तियों में पढ़ते आ रहे है। भारतीय समाज की यह कितनी बड़ी विडम्बना है की जो लोग समाज के हाशिय पर अपना जीवन यापन करते है, उनके बहुत बड़े योगदान को समाज की नजरों से छुपाया जाता है। यह कार्य हमारे समाज के मात्र मुट्ठी भर लोग अपने स्वार्थ के लिए करते है। अभी तक बांसवाडा अंचल में स्थित मानगढ पहाड़ी इस आदिवासी शहादत के कारण एक स्वतंत्रता–तीर्थ में बदल जानी चाहिए। भील–मीणों ने गोविन्द गुरु के नेतृत्व में पहले एक लम्बा शांतिपूर्ण अभियान चलाया था, लेकिन उनके इस अभियान को ठिकानेदारों ने बगावत के रूप में लिया और उसे कुचलने के लिए अंग्रेजो से मदद की गुहार की। गोविन्द गुरु और उनके साथियों ने अंग्रेजी व रियासती फौजों से बचने के लिए मानगढ पहाडी को शरण–स्थली बनाया था। घिर जाने पर ही उन्होंने हथियार उठाए थे और तीरों तथा पुरानी बंदूकों जैसे भोथरे हथियारों से अंत तक मुकाबला किया था। उन पर न सिर्फ धोखे से हमला किया गया था, बेरहमी से मशीनगनी मौत का कहर भी बरपाया गया था। गोविन्द गुरु ने भीलों–मीणों के बीच कैसे जागृति फैलाई, कैसे उन्हें संगठित किया और कैसे उन बे–आवाजों को अपने हकों के लिए बोलना सिखाया व बलिदान के लिए तैयार किया, यही इस उपन्यास की अन्तर्वस्तु है। गोविन्द गुरु आर्य समाज में दीक्षित धार्मिक व्यक्ति थे। उनकी धर्म–चेतना आत्म–लाभ वाली धर्म–चेतना नहीं थी। वह आर्य–समाज की आरम्भिक लोकवादी और सुधारवादी न्याय–चेतना से अनुप्राणित थी। यह चेतना ही उन्हें समाज–चिन्ता की ओर ले गई, ठीक मध्यकालीन भक्तों–संतों की परम्परा में। समय की माँग थी कि वे केवल साधक और गुरु बनकर ही रहें, अपने अनुयायियों में अन्याय के प्रतिरोध की भावना भी जगाएँ तथा उसके लिए संघर्ष में उनका नेतृत्व करें। लेखक का लक्ष्य निकट अतीत की इस अविस्मरणीय घटना को आख्यान के जरिये इस तरह प्रस्तुत करना है कि उसकी सच्चाई असंदिग्ध बनी रहे।

लेखक की इस बलिदान–कथा में दिलचस्पी स्वाभाविक है, वह स्वयं उस समाज का अंग है। लेकिन केवल जातिगत दिलचस्पी से ऐसी कथा नहीं लिखी जा सकती जो मानवीय मुक्ति–संग्राम की अटूट श्रंखला की कडी बन सके। उसके लिए जिस व्यापक स्वतंत्र्य–दृष्टि की अपेक्षा है, वह लेखक के पास है और उसके साथ है एक कवि की संवेदना। लेखक ने अपनी नायक के संन्यासी–व्यक्तित्व के अनुरूप साधु–गिरी वाली जबान का कुशल विनियोग किया है। जिस सामाजिक परिवेश में

गोविन्द गुरु जीये, वह धर्म–शासित था, ऐसे समाज में कोई धार्मिक व्यक्ति ही सामाजिक नेतृत्व दे सकता था, मध्यकाल के इतिहास से इस बात को हम समझ ही सकते हैं। लेखक ने धर्म गुरु गोविन्द जी की इस मानवीय भूमिका को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है। गोविन्द गुरु स्वयं भील–मीणा समुदाय के नहीं थे, उस समुदाय से कुछ बेहतर स्थिति के घुमन्तू व्यापारी बंजारा वर्ग से आए थे। पहले उन्होंने अपने को जाति–मुक्त (डी–क्लास) किया और भील–मीणों से स्वयं को एकमेक कर लिया। तदान्तर उन्हें अंधविश्वासों, रूढ़ियों, कुप्रथाओं और नशाखोरी से छुटकारा दिलाने का प्रयास कियाय तभी वह उन्हें एक प्रतिरोधी समाज में संगठित कर सके। उनका यह कार्य प्रकटतः अराजनैतिक था, लेकिन परिणाम में राजनैतिक दिशा की ओर ले जाता था। अंग्रेज ठिकानेदारों की मदद से वनभूमि–वनोपज आदि पर उनके प्राकृतिक और परम्परागत अधिकारों से उन्हें वंचित करने लगे थे। एक तरफ उनका सामंती शोषण चल रहा था, ठिकानेदार उन्हें सताते थे, जबरन वसूली करते थे, उनसे बेगार लेते थे और उनसे गुलामों जैसा सलूक किया जाता था। दूसरी तरफ वे उपनिवेशवादी शोषण से और त्रस्त किए गए। इन अत्याचारों के विरोध में हकों की माँग को राज–विरोध माना गया और उसे कुचलने के लिए विदेशी शासन ने देशी शासकों को पूरी फौजी मदद दी। उपन्यासकार ने इन अत्याचारों का और इनके प्रतिकार में संगठित होते जनान्दोलन का तथा जनान्दोलन के निर्मम दमन का एक ऐसा कथावृत्त तैयार किया है जिसे पढ़ना शुरू करने पर पाठक अंत में आकर ही दम लेता है।

श्री प्रकाश मिश्र के 'जहां बांस फूलते है' (1997) उपन्यास में मिजोरम के आदिवासी संघर्ष की कथा का वर्णन किया गया है, जो श्री प्रकाश मिश्र के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर है। मनमोहन पाठक का 'गगन घाटा घहरानी' एक महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है जो सन् 1991 में 'कतार' पत्रिका के वार्षिक विशेषांक में प्रकाशित हुआ। संजीव का 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास आदिवासी धारू जाति और डाकुओं एवं राजनीतिज्ञों के आपसी लड़ाई को प्रदर्शित करता है। झारखण्ड के पीटर पॉल एक्का द्वारा रचित 'जंगल के गीत' में कथावस्तु आदिवासी प्रेमी युगल के इर्द–गिर्द घूमती है फिर भी आंचलिक, प्राकृतिक, आदिवासी संस्कृति के अन्य पक्षों तथा जीवन के अन्य प्रसंग भी अभिव्यक्त हुए है। मंगल सिंह मुंडा का 'छैला संदु' का कथानक एक प्रेम कहानी पर आधारित है। 'लौटते हुए' वाल्टर भेंगरा 'तरुण' का उपन्यास है। इस कृति में झारखण्ड अंचल की एसी महिलाओं के दुःख व शोषण को अभिव्यक्ति दी गई है जिन्हें रोजगार की तलाश में दूरस्थ

महानगरों एवं अन्य राज्यों की और पलायन करना पड़ता है।

संदर्भः

1. तेजिन्दर, काला पादरी, नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2010
2. राकेश कुमार सिंह, जो इतिहास में नहीं है, नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 2005, पृष्ठ 35
3. वही, पृष्ठ 38–39
4. रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009
5. हरिराम मीणा, धूणी तपे तीर, दिल्ली, साहित्य उपक्रम, 2008

शोधार्थी, हिंदी विभाग,
राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
बांदर सिंदरी, किशनगढ़
email: sumitmeena1990@gmail.com
Mob: 9929362008

आदिवासी स्त्री दैहिक शोषण और हिन्दी उपन्यास

रवि शंकर शुक्ल

आदिवासी स्त्री की कहानी पुरुषसत्तातमक समाज के शोषण से प्रारम्भ होकर पुरुष द्वारा उत्तपीड़न पर ही समाप्त हो जाती है। ग्रेस कुजूर की ये कविता इसी प्रकार की स्त्री जीवन को बयाँ करती हैः

"तुम
कैद कर देते हो उसे
गमले में किसी बोनसाई की मानिंद
इसके बावजूद वह फूलती है
फलती है और तुम उसके
इस बौनेपन में कितने खुश हो।"1

देह व्यापार में किसी भी कारण से लिप्त स्त्रियों के प्रति एक आम धारणा होती हैं कि वे सभ्य नहीं होती। वे अपने दैहिक सुःख के लिए इस धन्धे मे अपने मन से आती हैं। जबकि यह विचार पूरी तरह से गलत है। मध्य प्रदेश राज्य में निवास करने वाली बेड़िया स्त्रियां अत्याधिक संख्या मे देह व्यापार से जुड़ी होती हैं, जिसका कारण तथाकथित समाज है। यह समाज इन्हें इस धन्धे में उतारता है। 'पिछले पन्ने कि और' नामक उपन्यास कि लेखिका ने बेड़िया आदिवासी औरत की इस समस्या को बखूबी उजागर किया है। ये स्त्रियां अपनी अशिक्षा के कारण अपने अधिकारों को नहीं जान पाती इसलिए इन्हें देह व्यपार से कोई शिकायत नहीं होती है। ये इसे अपनी परम्परा का ही अंग मान लेती हैं। उपन्यास में जिन ठाकुरों एवं जमींदारों की वे रखैल होती हैं, वे हमेशा इन्हें अत्याधिक प्रताड़ित एवं अपमानित किया करते हैं। ठाकुर बहुत ही बेशर्मी के साथ इशारा करते हुए कहता है कि– "हम और हमारा ये तो तुम्हें ही ठकुराइन मानते हैं, ठाकुर ने अपनी दोनों जांघो के मध्य की ओर संकेत करते हुए कहा था, लेकिन ये ससुरा समाज तो नहीं मानेगा। हम कोई चमार–ढीमर होते तो तुझे अपनी चमारन्या ढीमर जरूर बना लेते। हम ठाकुर हैं और अमृत बांटना हमारा धर्म है।" 2

"मैनें देखा था चुड़का सोरेन

बाजार ले जाकर बेचते हुए तुम्हारे माँ को भी
हजार–हजार कामुक आँखों और सिपाहियों के पंजे झेलती।"3

आदिवासी अपनी अस्मिताबोध के लिए सबसे ज्यादा संघर्ष करते नजर आते हैं। इस समस्या को रांगेय राघव ने 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास में यथार्थ और मार्मिक तरीके से दिखाया है। उपन्यास में करनटों पर पुलिसिया अत्याचार और उनकी स्त्रियों के यौन–शोषण की समस्या को पूरी संवेदना के साथ दिखाया गया है। तथाकथित समाज के लोगों के लिए निम्न जाति की स्त्रियाँ केवल शारीरिक सुःख के लिए हैं। ठाकुरों के द्वारा हो रहे शोषण को देखते हुए सुखराम की भाभी बोलती है– "राधा की बहू कुएं में डूब मरी। क्यों? ठाकुरों ने उसे कहीं का नहीं रखा। सुखराम ने दोनों हाथ उठाकर कहा– "तू देख रहा है? यह है तेरी दुनिया! यह तेरा न्याय! और कहने को हम कमीने हैं। ये लोग जाति के बल पर, डंडे के बल पर गरीबों के खाल खैंचते हैं। इनका घमंड सबको कुचलकर रखता है। यह नफरत के बल पर जीते हैं। ताकि दूसरों का घर बर्बाद कर सकें। वह कह नहीं सका। उसका गला रुंध गया। फिर रूककर कहा– "और कह भाभी! उन्होंने, स्त्री ने कहा बुद्धा, हीरा और पंगा को नंगा करके वेतों से पीटा और उनके औरतों के मिर्च भर दी। सुखराम के रोंगटे खड़े हो गए। उसकी आँखे भय से निकल आई। स्त्री में कहा पनगा की बहू पेट में था। गिर गया। वह मर गई।"4

किसके शिकार में

रोज जाते हो जंगल?

किसके?

शाम घिरते ही अपनी बस्तियों में

उतर आए

इन खतरानक शहरी जानवरों को

पहचानो चुड़का सोरेन

पहचानो !!

पांव पसारे जो तुम्हारे घर में

घुस कर बैठे हैं

तुम्हारे भोलेपन की ओट में
इस पेचदार दुनिया में रहते
तुम इतने सीधे क्यों हो चुड़का सोरेन?"5

ऐतिहासिक उपन्यास "सूरज किरण की छांव" में किस तरह भोले–भाले आदिवासी स्त्रियों को बहला–फुसला कर एक बंजारी स्त्री को मिसेज बेंजो बना दिया जाता है। वह स्त्री अपनी मूल जड़ से कटने और नगरी सभ्यता को ग्रहण करने के बीच अपने को असहज महसूस करती है। क्रिश्चन बनने के लिए उसे नगरीय सभ्यता के तहत फंसाया जाता है। एक क्रिश्चन लड़का उस बंजारा लड़की को अपने जाल में फंसा लेता है "शहर से तेरे लिए एक नया ब्लाउज ला दूंगा। बल्ला.. बंजारी से उसका नाम तक उच्चारित नहीं होता। वह पूछती है 'यह क्या बोला है रे।"6 बंजारा स्त्री को धर्म पतिवर्तन के बाद बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस छल–प्रपन्च के चलते इनकी अस्मिता संकट के कगार पर पहुच गई है।

डॉ0 विनायक तुमराम का कहना है कि– "आदिवासी समाज दुखी और सताया हुआ है। अनेक व्याधियों से जर्जर है। नारी अन्याय–अत्याचारों से पीड़ित है तथा शोषण से खोखली हो गई हैं।"7

हिमांशु जोशी के उपन्यास 'सु–राज' जिसमें कुमाऊँ का पर्वतीय आँचल है। यह उपन्यास शोषित आदिवसियों का बहुत ही जीवंत दस्तावेज है। आदिवासी स्त्री–शोषण को केंद्र में रखा गया है इसी के इर्द–गिर्द पूरी कथा घूमती है। उपन्यास का पात्र धरमू का बेटा जन्नू, शंखी को मेला दिखाने के बहाने शहर की तरफ ले जाता है वहाँ उसकी इज्जत के साथ खिलवाड़ करता है। वहाँ पुराने से घर में बंद करके उसे जबर्दस्ती दारू पिलाता है। लौट के आने पर वह आपने साथ हुए कुकृत्य को बताती है। उसके शरीर पर अनगिनत घाव के निशान थे, शरीर नीला पड़ गया था और कुछ ही दिनों के बाद उसकी मृत्यु हो जाती है।

जंगलराज में जंगल में रहने वाली दीन–दुःखी महिलाओं का शोषण डाकू ही नहीं पुलिस अफसर भी किया करते हैं। इनकी इज्जत एवं आबरू को अपने बहशीपन का शिकार बनाते हैं। इस प्रकार का जुल्म 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास में देखा जा सकता है। इस उपन्यास में मलारी नामक पात्र का स्त्रीत्व तार–तार होता है– "तुम कितनी अच्छी हो! कितनी सुन्दर! वह उसके हाँथों पर हाथ रखता है, तुम्हें देखकर कोई अपने वश में कैसे रह सकता है? वह उसकी नर्म

जाँघों और गोलाइयों को दुलारता है। मलारी आँख मूंद लेती है। हाथ ब्लाउज की ओर बढ़ते हैं, बटन खुलती है एक–एक कर। वह आँख खोल लेती है जैसे वह भी कोई बटन हों।"8

एक अन्य सन्दर्भ में संजीव दिखाते है कि आदिवासी स्त्री पर गलत निगाह रहती है। बिसराम बहू को पुलिस डाकुओं को खाना पहुँचाने के आरोप में थाने ले जाती है तो बिसराम अपनी बच्ची को चुप कराते हुए कहता है– "ना ना" वह उसे गोद मे ले कर फिर दुलारने लगा, राजा की बिटिया है! राजा? अच्छा राम राम के बेर में सच–सच बता तो– केकर बिटिया है? मलिकार की? परशुराम की?" 9

"और एक दिन गजब ही हो गया
लखना के बेटे को साँप ने काटा
तो सब के सब आ धमके हम पर
कहने लगे डायन हैं हम
कुछ कर दिया है उसके बच्चे को
वह तो अच्छा हुआ शरबतिया ने साँप देख लिया
नहीं तो पकलू बुढ़िया की तरह
मुझे भी घसीट कर ले जाते लोग कुलि में
और भरी पंचायत में सर मुँड़वा
नचा देते नंगा।"10

संजीव के 'धार' उपन्यास में संथाल लोगों को केन्द्र में रखा गया है। संथालों के इस गाँव में जिसमें कोई भी पढ़ा लिखा नहीं है, अंधविश्वास पूरी तरह फैला है। इस गाँव में डायन घोषित करने की परम्परा को दिखाया गया है। मैना की माँ गाँव में तेजाब की फैक्ट्री बनने पर अपने पति टेंगर से झगड़ा करती है। तेजाब के पानी से श्याम की भैंस के मर जाने पर उसकी मौत का कारण मैना की माँ को बना दिया जाता है, तब महेन्दर बाबू जानगुरु नामक ओझा को दो सौ रूपये देकर उसकी माँ को डायन घोषित करवा देता है– "ऊ शाल का पत्ता में तेल लगा के मन्तर पढ़ा, बोला मैना का माँ डायन है, उसका चलते–ई ये सब होता। हम तब छोटा था। माँ अलग रएता था। गाँव का सब, घेर लिया सब उसको, बोला तो डायन है। निकाल दो सौ रुपया, दो ठो बकरा। माँ घबरा के भागा। सब ऐसे खदेड़

लिया जैसे मानुख जात नई पागल कुतिया हो।"11

'धार' उपनयास में भी स्त्री शोषण और ओझा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस उपन्यास में जिस प्रकार मैना की माँ को डायन घोषित कर मार डाला गया, उसी तरह मैना को भी डायन बता कर मारने का प्रयास किया गया। परंतु उसकी नियति को यह स्वीकार्य नहीं था– "मैना!' शाल के पत्ते में झांकते हुए आखिर ओझा घोषणा करता है तो एक बार फिर अस्थिरता छा जाती है कि पंचानन ओझा के पीछे खड़ी वह भाग खड़ी होगी, लेकिन नहीं, एक मुहूर्त के अन्तराल होते ही उसके हाथ ओझा की गरदन पर पड़ते हैं और हलाल होते बकरे की तरह छटपटाने लगता है ओझा, खा जाहिर थान का कसम! खा माराँ बुरू का कसम।"12

इस तरह मैना अपना बचाव तो कर लेती है। ऐसा ही कुछ हमारे आदिवासी समुदाय के लोगों को समझना होगा और प्रगतिशील जीवन–दृष्टि को धारण करना होगा। आदिवासी स्त्री की स्थिती बहुत ही दयनीय है अपने सकुशल जीवन यापन के लिए पुरूषों का सहारा लेना पड़ता है, और पुरूष इनका शारीरिक शोषण किया करते है। वे आदिवासी स्त्रियों को हाड़–माँस की बिकाऊ वस्तु समझता है। इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी उनमें संघर्ष करने की क्षमता एवं सहनशक्ति अपार है।

संदर्भः

1. गुप्ता रमणिका संपा–आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी दृखंड–1,पृ. 25.
2. सिंह शरद, पिछले पन्ने की औरतें, सामयिक प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 2010, नई दिल्ली, पृ. 28
3. पुतुल निर्मला की कविताओं में आदिवासी जीवन (आदिवासी साहित्यः विविध आयाम)– संतोष तुकाराम टेलकीकर, पृ.19
4. राघव रांगेय, कब तक पुकारूँ, पृ .267
5. मीणा हरिराम संपा– समकालीन आदिवासी कवित, पृ. 29
6. अवस्थी राजेन्द्र, सूरज किरन की छांव ,पृ . 17
7. गुप्ता रमणिका संपा–आदिवासी साहित्य यात्रा ,–पृ .28
8. संजीव, जंगल जहाँ शुरू होता है, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपर बैक संस्करण– 2000,पृ.181

9. वही, पृ. 262
10. पुतुल निर्मला, नगाड़े की तरह बजते हैं, शब्द ,पृ. 41–42
11. संजीव, धार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011, पृ. 39
12. वही, पृ0 118

शोध–छात्र,
हिन्दी विभाग,
उत्तर बंग विश्वविद्यालय,
राजा राममोहनपुर,
जिला– दार्जीलिंग (प.बं.), पिन–734013,
मो.09614889085
Gmail: ravishukla163@gmail.com

आदिवासी समाज में स्त्री जीवन

भारत एक बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक, बहुप्रजातीय एवं बहुलधर्मी देश है। इन विभिन्न प्रजातियों में एक प्रजाति आदिवासी समाज की भी है। 'आदिवासी' शब्द का अर्थ है– आदिम युग की जातियाँ अर्थात् आदिवासी किसी भी देश के मूल निवासी हैं। ये लोग प्राकृतिक जीवन के सहगामी हैं तथा इन वनवासियों का स्थान हमारे सांस्कृतिक धरोहर में बहुत ऊँचा है। हमारे देश के विभिन्न राज्यों के जनजातीय इलाकों में प्रगौतिहसिक काल से लेकर आज तक ये लोग प्रकृति की गोद में रहे हैं। गोंड, भील, मुंडा, मीणा, उराव, जार्वा, मिजो, खासी एवं कोल आदि जनजातियों ने अपनी प्रकृति एवं संस्कृति को सुरक्षित सहज कर रखा है। इनकी नृत्य प्रणाली, केश रचना, वेशभूषा, अस्त्र–शस्त्र, अलंकार तथा रहन–सहन इत्यादि सभी कुछ महत्वपूर्ण हैं। ये एक ऐसा समाज हैं जिनके मूल्यों का न तो ह्रास हुआ है, न ही उसमे कोई विकृति आई है। ये सामूहिक जीवन–प्रणाली में ही जीते आये हैं तथा समूह में ही रहते रहें हैं।

बाबा भीमराव अम्बेडकर ने कहा था कि– "मैं किसी भी समुदाय की प्रगति इससे मापता हूँ कि उसमें महिलाओं ने कितनी प्रगति हासिल की है।" आदिवासी समाज में महिलाओं को रीढ़ की हड्डी की तरह माना जाता है। वे किसी भी मायने में पुरुषों से कम नहीं है, वरन उनसे भी अधिक साहस आदिवासी महिलाओं में देखने को मिलता है। इन साहसी महिलाओं की धीरता, सुन्दरता, कर्मठता, साहस एवं वास्तविक जीवन का अंदाजा इन निम्नलिखित पंक्तियों से लगाया जा सकता हैः

"श्रम ने कसा था
जिनका अंग–अंग,
धूप ने भरा था जामुनी रंग
रूप पर पसीने की लड़ियां
पारदर्शी मोतियों की
घने की कड़ियाँ, पर सच है
सब पर भरी था, हाय वह जामुनी रंग।"

सभ्य कहे जाने वाले हमारे मुख्यधारा के समाज में नारी और पुरुषों के नाम पर जो भेदभाव देखने को मिलता है, संभवतः वह आदिवासी मातृसत्तात्मक समाज में दूर–दूर तक देखने को नहीं मिलता, क्योंकि यहाँ स्त्रीयों को भी पुरुषों के सामान ही स्वतंत्रता प्राप्त है। पूर्वोतर समाज में खासी और जयंतिया जाति के लोग पर्वतीय जिलों के निवासी हैं। खासी समाज अपनी एक अलग पहचान और मातृसत्तात्मक समाज के लिए आज भी विश्व भर में प्रसिद्ध है। इस समाज में लड़कियों को वही दर्जा प्राप्त है जो आम समाज में पुत्र को होता है। लेकिन इनके यहाँ सुख यह भी है कि यहाँ पुरुषों की स्थिति भी बेहद सम्मानजनक है। इस समाज में युवक के माता–पिता एवं युवक अपनी तरफ से विवाह प्रस्तावित करते हैं।

इसी प्रकार ओड़िसा के पर्वतीय क्षेत्रों में पाई जाने वाली 'खरिया' जनजातीय समाज में वयस्क विवाह का नियम है अर्थात् विवाह तभी होगा जब पुरुष आजीविका चलाने और स्त्री घर का काम करने की आयु प्राप्त कर ले। खासकर तब, जब स्त्री 18 वर्ष और पुरुष 24 वर्ष की आयु के हो गयें हो। यहाँ विधवा विवाह एवं प्रेम विवाह को भी मान्यता प्राप्त है। बिहार के सिंह भूमि और पड़ोसी जिलों में पाई जाने वाली 'हो' जनजातियों में, जनजातीय प्रथाओं निषेध अथवा उल्लंघन पर न्याय के लिए पंच प्रणाली का सहारा लिया जाता है। इस समाज में प्रेम विवाह पूर्णतः सामाजिक मान्यता प्राप्त रखता है। इसे राजी–खुशी विवाह कहा जाता है। वधु–मूल्य अधिक होने के कारण प्रायः ये एकविवाही होते हैं। अपहरण विवाह भी इस समुदाय में प्रचलित है क्योंकि वधु–मूल्य अधिक होने के कारण युवकों के लिए चुकाना संभव नहीं रहता इसीलिए कुँवारापन या अपहरण ही एक विकल्प है। वहीं एक उम्र तक शादी न होने पर लड़कियों को डायन करार दे दिया जाता है। ऐसे में अपहरण विवाह भी यहाँ सामाजिक तौर पर मान्यता प्राप्त कर ही लेता है।

आज जहाँ भारतीय समाज में एक ओर स्त्री–पुरुष लिंगानुपात की एक विकट समस्या बनी हुई है, वहीं दूसरी ओर आदिवासी समाज में आज भी महिलाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में अधिक है, प्रति हजार पुरुषों के पीछे 1012 आदिवासी महिलाएं हैं। जो कि राज्य की औसत दर से भी अधिक है। यहाँ एक बात और गौरतलब है कि प्रकृति के प्रति जो दृष्टिकोण स्त्रियों का रहा है, मूलतः वह दृष्टिकोण पुरुषों का पर्यावरण के प्रति देखने को नहीं मिलता। नारी प्रकृति रूपा है और नारी के इस प्रकृतिपरक रूप को इस प्रकार समझा जा सकता हैः

"विंहस उठती है प्रकृति, वनों की किलकारी
मरता है वसंत, ठंडक उतरती है
गरम थोड़ो की नाभि में
अपने इस एकांत पलों में,
ब्रह्मा को बांयी ओर खिसका
खुद स्रष्टा होती है स्त्री"

इतिहास गवाह है कि रोहतास गढ़ किले की पराजय के समय जब सिनगी देई, कइली देई और चम्पू देई नहीं रही थी तो उराँव समाज की स्त्रियों ने उन तीनों सरदारनियों की स्मृति को अमरत्व प्रदान किया। वहीं से गोदने की तीन बिन्दियां धारण करने की परम्परा आरंभ हुई। उसी समय से रोहतास गढ़ की पराजय के प्रतिकार का पर्व भी मनाया जाने लगा, जिसका प्रतीक पर्व 'जनीशिकर' है। इसी परम्परा में आज हर बाहरवें वर्ष का फागुन उराँव समाज के लिए 'जनीशिकर' का महीना होता है। जनीशिकर दल के इस परम्परागत सांस्कृतिक अधिकार को जंगल की किसी भी पंचायत में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस जनीशिकर में पुरुषों का हस्तक्षेप वर्जित है।

आदिवासी समाज सदा से ही अपने श्रम के बल पर आत्मनिर्भर रहा है। अपने समूह और समाज को एकाकार होकर प्रकृति का साथी बन उसने सदैव प्रकृति के साथ संवाद स्थापित किया है। यह समाज उसके प्रकोप झेलता, साथ–साथ गतिशील रहा किन्तु आज देश का विकास इन्हीं आदिवासियों की कीमत पर हो रहा है। हालाँकि इस समाज ने कई बार इसकी कीमत विस्थापित होकर चुकाई है। उसके खेत, खदान बनते चले गए तथा जंगल कुर्सी, मेज और पलंग में तब्दील होते गए। यहीं नहीं वह भुखमरी का शिकार होकर चोरी आदि के जुर्म में जेलों की हवा खाने लगा। पंडो जनजाति की वर्तमान स्थिति इसका सटीक उदाहरण है, जहाँ उन्हें अपनी जमीन से हाथ धोकर आज फसल चोरी करने को मजबूर होना पड़ रहा है, जिस कारण उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा है। जमीन से बेदखल होकर वह आज ईट–भट्टों पर मजदूरी करने को मजबूर हैं तथा बहुत से आदिवासी समुदाय की औरतें ठेकेदार, जमींदार आदि के ऐशो–आराम का साधन हो गयी। अपनी जमीन, मिट्टी एवं उसकी गंध से अलग होकर वह रोजगार की तलाश में भटकते फिरते हैं। यहीं नहीं समाज में इन्हें अशिष्ट, असभ्य एवं पिछड़े

आदि नामों से अलंकृत किया किया जाने लगा।

यह सही है कि आदिवासी समाज में आज भी थोड़ा–बहुत अंधविश्वास की भावना कायम है किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आदिवासी समाज की संरचना समतामूलक है। यहाँ स्त्री–पुरुष में किसी भी प्रकार का कोई भेदभाव देखने को नहीं मिलता। आदिवासी समाज में स्त्री–पुरुष दोनों ही समान हैं, कोई छोटा–बड़ा, ऊँचा–नीचा नहीं। घर–खलियान से लेकर सभी स्थानों पर स्त्रियां काम करती हैं। अगर आदिवासी सामाजिक मूल्यों से हमारी मुख्यधारा के समाज ने कुछ सीखा होता, यथाः दहेज न लेना, स्त्री को समान दर्जा प्राप्त हो, स्त्री के साथ बलात्कार व छेड़छाड़ जैसी घटनाएं कोई सोच तक न सके, ऐसे दुष्कर्मों का अस्तित्व ही न हो तो क्या इन सब चीजों से मुख्यधारा का समाज अधिक मानवीय नहीं बनता? आदिवासी समाज में स्त्री के साथ केवल प्रेम एवं शादी का रिश्ता होता रहा है। अपितु छेड़छाड़ एवं बलात्कार जैसे जघन्य अपराध तो स्त्रियों के साथ बाहरी लोगों ने किये हैं।

एक सर्वे के अनुसार विशेष पिछड़ी आदिवासी जातियों में आज भी 10 में से नौ प्रसव घर में ही हो रहे हैं। और इस से भी ज्यादा चिंताजनक बात ये है कि इनमें से 25 प्रतिशत बच्चों की मौत हो रही है। खासकर छत्तीसगढ़ के सरगुजा जिले में यह समस्या बेहद गंभीर बनी हुई है। ग्रामीण इलाकों में रहने वाली महिलाओं के घर अच्छी सड़क न होने के कारण सूचना के बाद भी एम्बुलेंस वक्त से नहीं पहुँच पाती है। इसी पर आक्सैम की प्रतिनिधि संजीता गावरी कहती है कि–"हम अपनी समस्याओं को जीवन का हिस्सा इस तरह बना लेते है जिससे लगता है की हमारे जीवन में कोई समस्या ही नहीं है। बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं पाना हमारा अधिकार है पर हम उसकी मांग नहीं करते, जबकि स्वास्थ्य सेवा का अधिकार सभी महिला व पुरुषों प्रमुख अधिकार है।"

आज के समय में आदिवासी समाज में नारी की स्थिति बेहद चिंताजनक है क्योंकि बाहरी समाज के लोगों द्वारा आदिवासी स्त्रिओं के साथ आये दिन समय–समय पर हो रही बलात्कार की घटनाएं आज आम बनती जा रही हैं। सुषमा असुर का ये कथन इस बात का प्रमाण है– 'मैं असुर बेटी आप सभी से अपील करती हूँ, हमारी हत्याओं का नस्लीय पर्व बंद कीजिये, आप तो समर्थ और सभ्य लोग है, फिर क्यों इतना ज्ञानी होकर भी हत्या का धार्मिक आयोजन करते हैं।' आज छत्तीसगढ़ में आदिवासियों के हालत ये हैं कि सरकार किसी भी आदिवासी

को नक्सली का आरोप लगाकर जबरन जेल में डाल देती है, जिसका सबसे बड़ा उदाहरण निजी स्कूल की शिक्षिका आदिवासी महिला 'सोनी सोरी' हैं, जिनको नक्सलवादियों का सहयोगी बताकर जेल में डालकर इतना प्रताड़ित किया गया की मानवता की सारी हदें पार कर दी, जिसे देश के सुप्रीम कोर्ट ने जमानत दे दी थी।

दूसरा उदाहरण 'मीणा खाल्को' का है, जिन्हें फर्जी मुठभेड़ में नक्सलवादी बताकर मार दिया गया। जबकि अभी 12 अप्रैल, 2015 को अनीता झा आयोग की रिपोर्ट के अनुसार भेड़ चलाने वाली 17 वर्षीय आदिवासी बालिका मीणा खाल्को को माओवादी बताकर गोलियों से भून दिया गया। इस केस में अभी हाल ही में बलराम जिले के चंदों थाना के तत्कालीन प्रभारी सहित 25 पुलिसकर्मियों के खिलाफ हत्या का मामला दर्ज किया गया है।

तीसरा उदाहरण सुकमा के छोटे से गाँव की आदिवासी लड़की हिंडमे का है, जो मात्र 16 वर्ष की थी तब ही उसके माता–पिता बीमारी में चल बसे, जो कि महुआ बीनते और खेती करते थे। उसे भी नक्सलवादी बताकर जेल में डाल दिया गया, जो अब सात सालों बाद जेल से छूट सकी हैं। ऐसे ही न जाने कितने निर्दोष आदिवासियों को बिना किसी जुर्म हमारे देश की जेलों में बंद कर रखा है या नक्सलवादी कह कर मारा जा रहा है। यही नहीं आदिवासी समाज की स्त्रियों, बेटियों को अगवा कर या बहला–फुसलाकर वैश्यावृति के धंधे में धकेला जा रहा है और कोई भी रोकने–टोकने वाला नहीं होता है। आदिवासी औरतों का यौन शोषण करने में धर्मधुरीण भी पीछे नहीं हैं। कथाकार रणेंद्र कृत 'ग्लोबल गाँव के देवता' नमक उपन्यासिक कृति में देखा जा सकता है कि किस प्रकार शिवदास बाबा अपनी हवस पूरी करने के लिए लड़कियों का आवासीय विद्यालय खोल देता है। ग्लोबल गाँव के देवताओं के लिए तो यह काम और भी सहज है। ऐसी अनेक घटनाएं आये दिन अखबारों में छपती हैं।

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस 8 मार्च, 2015 को भिलाई में आदिवासी समाज की महिलाओं को सशक्त करने के लिए शिक्षा और आर्थिक विकास पर जोर दिया गया। इस मौके पर जंगो लिंगा आदिवासी महिला समिति की अध्यक्ष श्रीमती 'नीरा कुंजाम' ने अपील की कि महिलाओं को आगे आना होगा तभी एक सशक्त समाज का निर्माण किया जा सकता है। कुमारी प्रियंका ठाकुर जयस ने कहा कि समाज का पढ़ा लिखा वर्ग अपने समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझे। दरअसल आज जरूरत इस बात पर जोर दिए जाने की है कि अब आदिवासियों को अपने

अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक होना होगा तथा अपने अधिकारों के हनन व दमन के विरुद्ध मुखर रूप से अपना विरोध दर्ज कराना होगा। अतः इस बात में कोई दो राय नहीं हैं कि आदिवासी समाज का स्वरूप महिलाओं की शैक्षिक स्थिति से ही बदलेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः

1. आदिवासी दस्तक–विचार, परंपरा और साहित्य, रमेशचंद मीणा, अलख प्रकाशन, जयपुर–302019, 2013
2. आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली–110072, 2013
3. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2009
4. जो इतिहास में नहीं है, राकेश कुमार सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2005
5. थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ, रणेंद्र, शिल्पायन, दिल्ली–110032, 2010
6. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, अंक–3, दिसम्बर– 2013
7. संचारिका, सं. सुरेश पुरी, अंक –21,जनवरी–फरवरी मार्च –2012
8. जनादेश, अरविंद्र कुमार, दिसम्बर–2006
9. नई दुनिया, दैनिक भास्कर, दलित आदिवासी दुनिया आदि समाचार पत्र